गीता की पृष्ठभूमि

आज **'गीता-जयन्ती'** के शुभ अवसर पर मैं आप समस्त परम जिज्ञासुओं के सम्मुख, इष्ट व सद्‌गुरु-कृपा से गीता की पूर्व-भूमिका के आध्यात्मिक रूप से मानव-जीवन की यथार्थता व सार्थकता पर प्रकाश डालना चाहता हूँ। आजकल टीवी में कई तथाकथित आध्यात्मिक चैनलों की भरमार है। अन्यथा भी जनसाधारण के लिए प्रवचनों, श्रीमद्‌भागवत कथाओं, रामकथाओं आदि के आयोजन विशाल स्तर पर किए जाते हैं। प्रवचनों और उपदेशों के माध्यम से ब्रह्म-सूत्रों तक की व्याख्याएँ की जा रही हैं। उनकी आलोचनाएँ, प्रत्यालोचनाएँ करते हुए सब वक्ता अपनी-अपनी दृष्टि से धर्म-ग्रन्थों तथा ब्रह्मज्ञान की अभिव्यक्ति प्रस्तुत करते हैं।

भारत में गुरु-शिष्य परम्परा अत्यधिक पावन व सनातन है। सद्‌गुरु, सद्‌शिष्य की मानसिक स्थिति देखते हुए पहले यह निर्णय करता था, कि अमुक शिष्य मेरी बात सुनने का अधिकारी है भी या नहीं। **भगवान श्रीकृष्ण जगद्‌गुरु हैं, उन्होंने कुरुक्षेत्र की रणभूमि में करोड़ों लोगों में से केवल अर्जुन को गीतोपदेश का अधिकारी माना।** नहीं तो सभी को एकत्र कर लेते, कि पहले गीता सुन लो, फिर युद्ध होगा। श्रीकृष्ण परम समर्थवान हैं, यदि उनका आदेश हो जाता तो कौन मना कर सकता था ! कौरव पक्ष में भी भीष्म पितामह आदि उनके भक्त थे। कुछ भक्ति-भाव से आते, कुछ उनके सुदर्शन चक्र के भय से आते। सभी आते, परन्तु श्रीकृष्ण ने गीता केवल अर्जुन को ही सुनाई।

मैं यहाँ केवल गीता की पूर्व-भूमिका की चर्चा कर रहा हूँ, गीता में कृष्ण

ने क्या उपदेश दिया, यह कृष्ण ही जाने। रण का मैदान है, कौरव व पाण्डव सेनाएँ दोनों एक दूसरे के रक्त की पिपासु हैं। युद्ध के आरम्भ का शंखनाद हो चुका है। निहत्थे सारथी कृष्ण ने अर्जुन के कहने पर दोनों सेनाओं के मध्य अर्जुन का रथ खड़ा कर दिया। उस महारथी अर्जुन ने अपना गाण्डीव, जिसमें इतनी शक्ति थी, कि पूरी विपक्षी सेना को अकेला मार सकता था, वह भी नीचे रख दिया और युद्ध करने से मना कर दिया। **आप श्रीमद्‌भगवद् गीता की इस पृष्ठभूमि पर गहनता से विचार करें, तो आपको गीता के मूल भाव की अनुभूति हो जाएगी।** गीतोपदेश के दौरान दोनों सेनाओं में से किसी का साहस नहीं हुआ, कि कहे 'जल्दी करो, युद्ध करना है।' जब तक गीता का उपदेश होता रहा, एक दूसरे के जानी दुश्मन रथी, महारथी और सभी योद्धा समय, देश और स्थान के साथ-साथ अपना लक्ष्य भी भूल गए।

मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन महाभारत का युद्ध प्रारम्भ हुआ और यह युद्ध अठारह दिन तक चला। गीता कितनी देर चली, इसका किसी को कोई ज्ञान नहीं है। जिसका स्पष्ट अर्थ है, कि गीता अकाल-काल में चली, क्योंकि श्रीकृष्ण अकाल पुरुष हैं। हमारे देश के आजतक के इतिहास में जो सबसे बड़ा युद्ध हुआ, वह महाभारत का युद्ध था। उस युद्ध के आरम्भ होने से पूर्व अर्जुन को श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश दिया, जिसे ग्रहण करने का अधिकारी एकमात्र अर्जुन ही था। **युद्ध की योजना की पूर्व-भूमिका में गीतोपदेश कार्य-सूची में नहीं था।** युद्ध में मारकाट, खून-खराबा होना था। गीता के दौरान क्या दोनों पक्षों के लोग प्रतीक्षा में खड़े रहे होंगे, कि गीतोपदेश पूरा हो जाए, फिर हम युद्ध प्रारम्भ करेंगे ! आप उस स्थिति पर विचार करें, युद्ध प्रारम्भ होने को था, शंखनाद हो चुका था, दोनों ओर सेनाएँ एक दूसरे के खून की प्यासी खड़ी थीं। अचानक अर्जुन ने श्रीकृष्ण से अपना रथ दोनों सेनाओं के मध्य खड़ा करने को कहा और विपक्ष में अपने सम्बन्धियों को देखकर निराश हो गया। उसकी युद्ध करने की इच्छा ही न रही। उसने अपना गाण्डीव नीचे रख दिया और कहा, कि मैं

स्वजनों को मारकर त्रिलोक का राज्य भी लेकर क्या करूँगा? तब श्रीकृष्ण ने केवल अर्जुन को गीता का उपदेश दिया और उसकी अवसादमयी मनःस्थिति का प्रक्षालन किया तथा भ्रम का निवारण किया।

रणक्षेत्र में गीता का उपदेश हुआ। युद्ध के कुछ नियम व मर्यादाएँ भी निश्चित की गई होंगी। क्या गीता सुनाना युद्ध के कार्यक्रमों की सूची में था ? क्या दोनों ओर के योद्धाओं को ज्ञान था, कि युद्ध में लड़ने से पहले श्रीकृष्ण अर्जुन को गीता का उपदेश देंगे? युद्ध का शंखनाद होने के बाद समस्त सैन्य-दल गीतोपदेश के दौरान प्रतीक्षा करता हुआ क्या करता रहा? श्रीकृष्ण स्वयं भी दोनों पक्षों में से एक पक्ष में थे। यद्यपि उन्होंने शस्त्र नहीं उठाया, लेकिन फिर भी वे तटस्थ तो नहीं थे। वे पाण्डवों के पक्ष से युद्ध में सम्मिलित थे। युद्ध का ऐसा कोई नियम भी नहीं था, कि श्रीकृष्ण के संकेत पर ही युद्ध प्रारम्भ होगा। दुर्योधन, दुःशासन आदि श्रीकृष्ण के निजी शत्रु भी कौरव पक्ष में थे। श्रीकृष्ण जब युद्ध से पहले सन्धि-प्रस्ताव लेकर गए थे, तो उस कौरव सभा में दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को बन्दी बनाने की चेष्टा भी की थी।

इस समस्त पूर्व-भूमिका से स्पष्ट संकेत मिलता है, कि महाभारत का युद्ध भगवान श्रीकृष्ण की लीला थी। उस युद्ध-भूमि में गीता का उपदेश देना श्रीकृष्ण की भगवत्ता का ही प्रतीक है। **उन्होंने युद्ध-भूमि में वह समाधि-स्थिति उत्पन्न कर दी, कि लोग लड़ना भूल गए। उनके श्रीमुख से निकले हुए यथार्थ शब्दों का चमत्कारिक प्रभाव यह था, कि अनेक अक्षौहिणी सेनाओं का प्रत्येक प्राणी (हाथी, घोड़े आदि पशु भी) उस दौरान समाधिस्थ हो गया। हर कोई अपने नाम-रूप की प्रतीति से परे, देहातीत अवस्था में स्थित हो गया। श्रीकृष्ण ने केवल अर्जुन को गीता का उपदेश दिया।** जब तक अर्जुन को स्वयं कृष्ण ने अपना विराट रूप दिखा कर अपनी भगवत्ता का दिग्दर्शन नहीं कराया, तब तक गीता का एक शब्द भी अर्जुन के पल्ले नहीं पड़ा।

श्रीकृष्ण स्वयं भी एक पक्ष में हैं। उस महायुद्ध की रणभूमि में युद्धारम्भ का सिंहनाद होने के बाद श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जिस समय गीता का

उपदेश दिया, उस समय श्रीकृष्ण भी निहत्थे थे और अर्जुन भी गाण्डीव नीचे रख चुका था। किसी से छोटा सा झगड़ा भी हो जाए और विपक्षी लड़ने के लिए आ जाए तो व्यक्ति अपनी सुध-बुध भूल जाता है। **यदि गहनता से विवेकपूर्वक इस स्थिति के बारे में विचार करेंगे, तो आप पाएँगे कि निराकार पारब्रह्म परमेश्वर, पंच-प्राणों का पुंज सच्चिदानंद परमात्मा ही, श्रीकृष्ण भगवान के साकार रूप में अवतरित हुआ है।** सारा युद्ध उनके इशारे पर होना है, दोनों पक्षों की मनःस्थितियों का उन्हें ज्ञान है। सभी योद्धाओं के स्वभाव, प्रकृति व प्रतिभाओं से वे परिचित हैं। वे भगवान हैं, वे सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ख्याति, ऐश्वर्य एवं वैराग इन छः भगवत्ताओं से युक्त साकार ईश्वर ही हैं। वे योगीराज हैं, योगीश्वर हैं।

श्रीकृष्ण ने उस रणभूमि में केवल अर्जुन को गीता का उपदेश दिया, जो उस अवसादमयी मनःस्थिति में उसके पल्ले नहीं पड़ा। अर्जुन को जब श्रीकृष्ण ने अपना विराट स्वरूप दिखाया, तब उसको अनुभूति हुई, कि मैं व्यर्थ ही स्वयं को युद्ध का कारण मानकर सोच रहा था, कि मेरे द्वारा स्वजनों को मारा जाएगा। **भगवान का विराट स्वरूप, हमारी एक नाम-रूप की स्थूल देह के समान ही था।** सकल कोटि-कोटि महाब्रह्माण्ड भगवान की स्थूल देह है, जिसे भगवान की विराट देह भी कहा जाता है। अतः स्थूल और विराट एक दूसरे के समानान्तर हैं। **सूक्ष्म देह, हिरण्यगर्भ है और कारण देह स्वयं ईश्वर है। विराट, हिरण्यगर्भ और ईश्वर के प्रतीक हैं स्थूल, सूक्ष्म और कारण।** अर्जुन, भगवान श्रीकृष्ण को भी अपनी ही भाँति एक स्थूल देहधारी, अपने सखा के रूप में जानता, पहचानता था। भगवान ने अपने उसी सखा को अपनी विराटता दिखाई। **उस विराटता में असंख्य कृष्ण, अर्जुन, सागर, पर्वत, नदियाँ, अग्नियाँ, पृथ्वियाँ, जल-प्रपात, झरने, जलचर, नभचर, थलचर, तरु, वनस्पति, पल्लव, मृग, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि दिखाए। जो कुछ भी करोड़ों महाब्रह्माण्डों में है, वह सब भगवान की विराट देह है। यह देखकर अर्जुन आश्चर्यचकित हो गया, कि जिन्होंने मारा जाना है, वे मर चुके हैं। अर्जुन भयभीत हो गया,**

प्रभु का वह सामान्य, स्वाभाविक विराट स्वरूप अर्जुन के लिए असामान्य होकर विस्मयाच्छादित भय का हेतु बन गया। अर्जुन ने प्रार्थना की, कि प्रभु ! आप अपने सामान्य रूप में आइए। यानि आप मेरी तरह हो जाइए। अतः गीता का उपदेश अर्जुन के भी तब पल्ले पड़ा जब भगवान ने उसे अपनी भगवत्ता से परिचित करा दिया।

गीता का यह समस्त उपदेश संजय के माध्यम से धृतराष्ट्र ने भी सुना, लेकिन धृतराष्ट्र ने उसका बिल्कुल विपरीत अर्थ ग्रहण किया। धृतराष्ट्र तो चाहते ही नहीं थे, कि अर्जुन युद्ध करे। अतः जब अर्जुन ने गाण्डीव रख दिया और युद्ध करने से इन्कार कर दिया, तो धृतराष्ट्र बहुत प्रसन्न हुआ। कृष्ण के गीता के उपदेश से वह इतना विक्षिप्त हो गया, कि मानने लगा कि यह ग्वाला कृष्ण मेरे भतीजे अर्जुन को मेरे पुत्रों के विरुद्ध युद्ध के लिए भड़का रहा है। वह मेरे पुत्रों को मरवाना चाहता है। धृतराष्ट्र को मालूम था, यदि अर्जुन ने गाण्डीव उठा लिया तो मेरे बेटे अवश्य मारे जाएँगे। अतः धृतराष्ट्र ने श्रीकृष्ण की गीता का बिल्कुल उलटा अर्थ लगा लिया। गीतोपदेश के जिस एकमात्र अधिकारी, तपस्वी अर्जुन को गीता सुनाई गई, उसके भी पल्ले नहीं पड़ी। वह अर्जुन जो श्रीकृष्ण का अनन्य भक्त है, उसने युद्ध में श्रीकृष्ण की कई अक्षौहिणी चतुरंगिनी सेना को छोड़कर निहत्थे ही श्रीकृष्ण से अपने पक्ष में रहने की याचना की थी। इस प्रकार अर्जुन श्रीकृष्ण को अपना मन ही समर्पित कर चुका था। **जहाँ कोई भगवान को अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है, भगवान वहाँ पक्षपाती हो जाते हैं। ईश्वर के आगे धर्मसंकट आ जाता है और सारी सृष्टि को छोड़कर ईश्वर को उसका ही पक्ष लेना पड़ता है। ईश्वर अपनी ही शक्तियों को उसके लिए हरवा देता है।** भगवान की सेना दुर्योधन के पक्ष में युद्ध कर रही थी और भगवान ने अर्जुन के लिए उस समस्त सेना को भी हरवा दिया। अतः उस निहत्थे श्रीकृष्ण ने अर्जुन को, जो अपना मन समर्पित कर चुका था, इस प्रकार विजयश्री दिलवाई।

अब कृष्ण ने गीता के उपदेश में अर्जुन से क्या कहा, इसे सबसे उत्तम

यदि कोई जानता है, तो वह कृष्ण ही जानता है। कोई महापुरुष प्रवचन दे रहा है, कोई कवि कविता लिख रहा है अथवा लेखक कोई कहानी, उपन्यास या लेख लिख रहा है, तो अपनी उस कृति के माध्यम से वह जो कहना चाहता है, उसे सर्वश्रेष्ठ स्वयं वही जानता है। शेष जो भी सुनेंगे या पढ़ेंगे, अपनी-अपनी समझ के अनुसार उसका भावार्थ ग्रहण करेंगे। उस महापुरुष, कवि या लेखक का मूल ख़याल कोई नहीं जानता। उसके ख़याल पर सब अपने-अपने भाव व समर्थ्यानुसार ख़याल प्रकट करेंगे। उन सबका अधिग्रहण पृथक्-पृथक् होगा। जैसेकि सद्‌गुरु ने कुछ शब्द प्रकट किए, तो सुनने वाले बीस लोगों ने उसके कम से कम बीस अर्थ तो निकालने ही हैं, अधिक भी हो सकते हैं। पति-पत्नी परस्पर बातों के अनेक मतलब निकालते हैं। **बातों के मतलब निकलते हैं, मतलब के मतलब निकलते हैं, अपने मतलब से मतलब निकलता है, किसी के मतलब से मतलब निकलता है, फिर अन्ततः कोई मतलब नहीं निकलता और बेमतलब का भी मतलब निकलता है।** एक बात के असंख्य रूप होते हैं, जिसके उपर्युक्त लगभग छः आधार तो होते ही हैं। सद्‌गुरु शिष्य की जिज्ञासानुसार शब्दों को रखता है, जिन्हें प्रत्येक शिष्य अपनी-अपनी बौद्धिक क्षमता व श्रद्धा के अनुसार ग्रहण करता है। धृतराष्ट्र को तो श्रीकृष्ण में श्रद्धा नहीं थी, इसलिए उसने तो गीता का बिल्कुल विपरीत अर्थ ग्रहण किया। गीतोपदेश के समय वह यही सोचता रहा, कि कृष्ण एक ग्वाला ही तो है, कुछ मायावी शक्तियाँ भले ही इसके पास हैं, जिससे यह अपना रूप बड़ा विशाल कर लेता है। न जाने क्यों मेरे भतीजे अर्जुन को मेरे पुत्रों के विरुद्ध भड़का रहा है। धृतराष्ट्र की बुद्धि ऐसी ही है। **सद्‌गुरु द्वारा प्रस्तुति शिष्य की जिज्ञासानुसार की जाती है और शिष्य उसका अधिग्रहण अपनी श्रद्धा के अनुसार करता है। उस प्रस्तुति का शिष्य पर उचित प्रभाव पूर्णतः सद्‌गुरु-कृपा पर आश्रित है।**

कहना-सुनना इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि उसका अनुकूल व उचित प्रभाव हो, यह आवश्यक है। किसी रोगी के लिए दवाई का अनुकूल

प्रभाव उसके रोग के उन्मूलन के रूप में होता है। औषधि से उसका रोग दूर हुआ है या बढ़ा है, औषधि से आराम मिलने की जितनी अपेक्षा थी उतना ही आराम मिला अथवा अपेक्षा से बहुत ज्यादा या बहुत कम आराम मिला। यह भी हो सकता है, कि औषधि की कोई विपरीत प्रतिक्रिया हो गई हो। **अतः प्रभाव सबसे महत्त्वपूर्ण है, तो सद्गुरु ने यह प्रभाव व कृपा का पक्ष, पूर्णतः अपने हाथों में रखा हुआ है।** सत्य तो यह है, कि कृपा के लिए कुछ बोलने-सुनने की आवश्यकता ही नहीं है। सद्गुरु जब कृपालु होता है, तो वह कुछ नहीं देखता। नहीं तो पुस्तक पढ़कर अथवा टीवी में प्रवचन आदि सुनकर सभी ज्ञानी हो जाएँ। आज कल तो ऐसे प्रवचनों की बाढ़ आई हुई है। लोग बहुत तथाकथित आध्यात्मिक हो गए हैं। कृष्ण की गीता के श्लोकों को कण्ठस्थ करके ही स्वयं को ज्ञानी मानने के भ्रम में गीता के अपने ही अर्थ निकालकर, अर्थ का अनर्थ करते रहते हैं। ऐसा ज्ञान कर्कश और दम्भपूर्ण होता है, जो व्यक्ति के पतन का कारण बनता है।

श्रीमद्भगवद् गीता को यदि प्रणाम करेंगे, उसके श्लोकों की वाह-वाह करेंगे तो स्वयं श्रीकृष्ण ही अपनी गीता के सार से हमें अवगत कराएँगे। उनके ऊपर धर्म संकट आ जाएगा, कि यह बिना समझे वाह-वाह कर रहा है, तो मैं इसके पल्ले भी डालूँ, कि आखिर तू वाह-वाह किसकी कर रहा है। हम प्रभु के आगे आत्मसमर्पण कर देते हैं, कि प्रभु! मेरी झोली में तू सुख-दुःख जो भी डाल दे, वह मेरे लिए तेरा प्रसाद ही है:—

''तू मेरा साहिब रहमाना
मैं तेरा दीदार दीवाना।
तू मुझे खुशी दे या ग़म
यह तेरा अख्तियार है,
हम बेनियाज़ हो गए झोली पसार के।''

इस भावनामय आत्मसमर्पण से प्रभु द्रवित हो जाते हैं और सोच में पड़ जाते हैं, कि मैं इसे क्या दूँ, यह तो पागल हो गया है। यदि मैं दुःख दूँ तो वह इसके हित में हो और सुख दूँ तो वह भी इसके हित में ही हो।

इस प्रकार वह देने वाला ही धर्म-संकट में पड़ जाता है। गीता आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों का अर्थ अपनी बुद्धि से समझने का प्रयास ही अनर्थकारी होगा। जो यह समझता है, कि उसे गीता समझ में आ गई है, उससे बड़ा अज्ञानी कोई हो ही नहीं सकता। **गीता में कर्मवाद की घोषणा करते हैं, कर्म करना मानव के हाथ में है, फल कृष्ण देगा।** कर्म की परिभाषा से हम सब अनभिज्ञ हैं और स्वयं को कर्मयोगी, कर्मठ न जाने क्या-क्या घोषित कर देते हैं। घोड़ा, खच्चर, ऊँट, बैल आदि पशु सारा दिन कर्म करते रहते हैं और उसके बदले कुछ माँगते भी नहीं, तो वे कर्मयोगी क्यों नहीं हैं? **कर्म वास्तव में ईश्वर के 'करम' या कृपा को कहते हैं। जो वह कृपा करके हमसे करवा ले, वह उसका 'करम' है, न करवाए तो भी उसका 'करम' है। जिस पर ईश्वर की कृपा होगी, वह हर स्थिति में वाह-वाह करेगा, जिस पर कृपा नहीं होगी, वह हाय-हाय ही करेगा।**

जिस पर प्रभु की कृपा होती है, वह ईश्वर के अतिरिक्त किसी से कुछ अपेक्षा नहीं रखता, कि "हे प्रभु ! तू मुझसे प्यार करता है, यह यदि मेरा भ्रम भी हो तो मुझे इसी भ्रम में रहने दे।" दुनिया में विभिन्न सम्बन्धियों और मित्रों के प्रेम के जिस भ्रम में हम युगों-युगान्तरों से जी रहे हैं, उस भ्रम से तो यह भ्रम कई गुणा शुभ है। क्या यह भ्रम नहीं है, कि यह देह मेरी है? इस देह को कितना सजा-सँवार कर रखते हैं, बादाम रोगन की मालिश करते हैं, वातानुकूलित कमरों में इसके आराम की व्यवस्था करते हैं। यह कभी भी हमें धोखा देकर चली जाती है ! ***"मैं मायके चली जाऊँगी, तुम देखते रहियो।"*** सबसे बड़ी बेवफ़ा तो हमारी अपनी यह देह ही है:–

"रूह और जिस्म का रिश्ता भी क्या रिश्ता है,
उम्र भर साथ रहे मगर तआरुफ़ न हुआ।"

उम्र भर तो शायर ने कहा है, वास्तविकता यह है, कि युगों-युगान्तरों से जीवात्मा स्वयं को देह मानकर जीव बना हुआ है। इसकी देह और यह, एक दूसरे के विरोधी बने हुए हैं। जीवात्मा देह को **'मैं'** मानकर जीव बन गया और इसकी यथार्थ देह, जन्म-मृत्यु में बँधी काल्पनिक देह हो गई।

जीव और यह देह, दोनों काल्पनिक हैं। दुनिया भर को हम जानने-पहचानने की बात करते हैं, दुनिया भर के विभिन्न ताज़े समाचारों को जानने की उत्कण्ठा हम में है, पर क्या हम स्वयं को जानते हैं? क्या हमें अपनी पहचान है, कि हम कौन हैं?

कभी किसी जन्म में किसी महापुरुष की कृपा से जीवात्मा और देह में समझौता होता है। सद्गुरु-कृपा से जीवात्मा स्वयं को पहचान जाता है, कि 'मैं देह नहीं हूँ,' लेकिन जब तक यह देह मेरे अनुकूल नहीं होगी, मेरा जीव-भाव समाप्त नहीं होगा। देह भी जान जाती है, कि मैं जन्म-मृत्यु में बँधी काल्पनिक देह नहीं हूँ। पति-पत्नी भी परस्पर कितने ही विपरीत हों, कभी न कभी समझौता कर ही लेते हैं। **तो देह जीवात्मा से प्रार्थना करती है, कि तू मुझे मेरी भस्मी का शाल ओढ़ा दे, क्योंकि मैंने कभी अपनी भस्मी नहीं देखी। बेशकीमती वस्त्राभूषणों से तूने मुझे अलंकृत किया, मेरी प्रत्येक सुख-सुविधा का ध्यान रखा। अब तू मुझे मेरी भस्मी का शाल ओढ़ा दे, तो मैं काल्पनिक देह से, यथार्थ देह बन जाऊँगी और तुझे जीव से जीवात्मा बना दूँगी।** क्योंकि देह की भस्मी जन्म और मृत्यु के काल्पनिक छोरों से बाहर है।

अपने जीवन-काल में जीते जी जब हम ध्यान में स्वयं को देह से परे करेंगे, देह को जलते हुए और भस्मी रूप में परिवर्तित होते हुए देखेंगे, तो स्वभावतः अपने को देह से विलग पाएँगे। जीते जी जाग्रतावस्था में जिन क्षणों में हम देह से अलग होते हैं, तो हमारा जीव-भाव समाप्त हो जाता है। हमारा जीवात्मा स्वरूप जाग्रत हो जाता है और वह देह, काल्पनिक देह से यथार्थ देह में रूपान्तरित हो जाती है। इस भाव से देह पर अधिपत्य करके, कि 'मैं यह देह हूँ', जीवात्मा, जीव बना था और जिस देह पर इसने अधिपत्य किया था, वह जन्म-मृत्यु में बँधी काल्पनिक देह हो गई थी। **जीवन-काल में कुछ क्षणों के लिए जब हम अपने परम यथार्थ भस्मी को, भाव से ओढ़ लेते हैं, तो उन क्षणों में हमारी यथार्थ देह और जीवात्मा स्वरूप, दोनों जाग्रत हो जाते हैं।**

जो देह इससे युगों-युगान्तरों से घृणा करती थी, अब इससे प्यार करने लगती है और वह इसे अपने रहस्य बताने लगती है। **क्योंकि देह को इसका पूर्ण आभास है, कि यह जीवात्मा शाश्वत् है।** मैं पृथ्वी की वस्तु हूँ, यह कभी भी मुझे छोड़कर चला जाएगा। देह अपनी तीन स्थितियों से इसका परिचय कराती है—निद्रा, मृत्यु और भस्मी। इन तीनों स्थितियों में अध्यात्म के द्वार की कुंजियाँ रखी हुई हैं।

सुषुप्ति क्या है? हम जानते ही नहीं। जाग कर कहते हैं, कि मुझे नींद का आनन्द आया। (मैं स्वप्न-रहित गहन सुषुप्ति की चर्चा कर रहा हूँ) जब वह आनन्द आ रहा था, तब तो मैं सो रहा था। उठ कर उस निद्रा का सुखद तात्कालिक प्रभाव मुझे यह कहने पर बाध्य कर देता है, कि मुझे आनन्द आया। **शास्त्र ने इसे अभावमय आनन्द कहा है, क्योंकि सुषुप्तावस्था में हमें अपनी देह की प्रतीति नहीं होती। देह व इन्द्रियों का कोई सुख नहीं होता। देह पर आधारित किसी भी वस्तु व प्राणी-जगत की पहचान भी नहीं होती।** योगी वहाँ से एक विचार लेता है, कि निद्रा की उस मानसिक स्थिति में वह अपनी देह के नाम-रूप की प्रतीति एवं पहचान से परे था। **इसी नाम-रूप की देह से अपनी पहचान का अभाव ही निद्रा का आनन्द बना।**

निद्रा एक प्राकृतिक मानसिक स्थिति होती है, जब आप अपने नाम-रूप की Consciousness से परे होते हैं, लेकिन आपको इसकी कोई Awarement नहीं होती, क्योंकि आप सोए हुए हैं। उठकर जितनी देर उस निद्रा के तात्कालिक सुखद प्रभाव की अनुभूति रहती है, उसी में आप यह कहते हैं, कि मुझे निद्रा का आनन्द आया। कुछ क्षणों बाद वह भी भूल जाता है। लेकिन उस निद्रा के दौरान जब आप अपने नाम-रूप की अवचेतना (Consciousness) में नहीं थे, आप अपने इष्ट या सद्गुरु के सम्मुख भी नहीं थे। अगर उस स्थिति में आप अपने इष्ट या सद्गुरु की Awarement में होते, तो निद्रा स्वयं में समाधि होती। इसलिए **निद्रा को जड़ता कहा जाता है।** आपको अपने नाम-रूप की प्रतीति नहीं थी और यह Awarement

भी नहीं थी, कि अपने नाम-रूप की Consciousness न होने का कोई सुखद प्रभाव आप पर है। **यदि आपकी वह मानसिक स्थिति हो, कि आपको नाम-रूप की Consciousness नहीं है, इसकी Awarement हो जाए तो वह समाधि है, आनन्द है, आपकी परम जागृति है।** नींद में आपको अपने नामरूप की पहचान का अभाव था, लेकिन इसकी Awarement नहीं थी, इसलिए आनन्द नहीं था। आनन्द कब होगा? जब नाम-रूप की पहचान नहीं होगी और इसकी आपको Awarement भी होगी। In sleep you are not aware that you are not conscious of your name and form but in Samadhi you are aware that you are not conscious of your name and form.

सद्‌गुरु अथवा इष्ट के ध्यान में बैठे हुए यदि आपकी वह मानसिक स्थिति बन जाए, जो आपकी निद्रावस्था में बनी थी, आप दीन-दुनिया, यहाँ तक कि अपनी देह को भी भूल जाएँ, तो उसे समाधि कहा जाता है। कई घण्टों की समाधि में भी कुछ पल ऐसे होते हैं, जबकि आप Aware होते हैं, कि आप अपनी देह के नाम-रूप की Consciousness में नहीं हैं। वे पल ही वास्तविक समाधि स्थिति के होते हैं। वे ही यथार्थ क्षण होते हैं। जागृति की कुंजी उन क्षणों में रहती है, जो देह ही देती है। आपकी Awarement आपका इष्ट या सद्‌गुरु है। उस Awarement में आप इतना खो गए, कि आपको अपनी देह व उस पर आधारित जगत की **Consciousness** नहीं रही। यही पल समाधि स्थिति के यथार्थ क्षण हैं। ये ही आपकी जागृति के क्षण हैं। शंकर उन जागृति के क्षणों में पार्वती से कहते हैं:–

''उमा कहहुँ मैं अनुभव अपना, सत् हरि भजन जगत सब सपना।''

हम तो एक स्वप्न को दूसरे स्वप्न में सुनाते हैं। अपने जीवन का बहुमूल्य समय इसी में नकारात्मक रूप से बिता रहे हैं। देह जीवात्मा को बताती है, कि तेरे **'अमरत्व'** की कुंजी **'मृत्यु'** में है और **'शिवत्व'** की कुंजी **'भस्मी'** में है। देह पहली चाबी **'जागृति'** की देती है, कि तू जागृति में सुषुप्तावस्था की मानसिक स्थिति पैदा कर ले, तो तेरी परम जागृति हो

जाएगी। तेरे अमरत्व की चाबी **'मृत्यु'** में है। तू जीते जी स्वयं को मृतक देख, इसे **मृत्युयोग** कहा है। जीते जी मानसिक स्थिति के जिन क्षणों में हम अपनी मृत्यु देख लेंगे, उन क्षणों में हम अमरत्व पद को प्राप्त हो जाएँगे। वहाँ से अमरत्व जाग्रत होना प्रारम्भ हो जाएगा।

जीते जी जब ध्यान में हम अपनी भस्मी देख लेंगे, तो हमारा शिवत्व जाग्रत हो जाएगा। अपनी अस्थियों का हम स्वयं विसर्जन करें। रोज़ कुछ समय ध्यान में अपनी देह का यह क्रिया-कर्म अवश्य करना है। यह समस्त अनुभूति का विषय है, जो इष्ट-कृपा से आपके सम्मुख रखा है। पहले यह ज्ञान हो जाए, कि हम सोए हुए हैं। हम अज्ञान की मोहनिद्रा में सुषुप्त विभिन्न स्वप्नों में ही विचर रहे हैं। हम सब अँधेरा ढो रहे हैं। Realise the sleep first तब हमारी जागृति के बीज पल्लवित हो जाएँगे। **जब हम अपनी चेतना में जागेंगे तो हमें अपनी तथाकथित जागृति की समस्त सृष्टि के 'सद्' की अनुभूति हो जाएगी। मानव-जीवन का यथार्थ यह जागृति ही है।** जीवन उन्हीं क्षणों में सार्थक जीवन है, जिसमें जाग गए। नहीं तो हम सोए हुए पैदा हुए हैं, सोए हुए ही तथाकथित जी रहे हैं, सोए हुए ही मर जाएँगे। सोए हुए ही पुनः पैदा होंगे और उन्हीं लोगों को नाम-रूप में बदल-बदल कर देखते रहेंगे। यह समस्त मायिक सृष्टि स्वप्नवत् ही है। **यथार्थ, मात्र वह जागृति है, जब हम अपनी Awarement में अपने नाम-रूप की देह की पहचान में न रहें। अमरत्व-मृतकावस्था की वह मानसिक स्थिति है, जिसमें जीते जी स्वयं में मृतक-सदृश हो जाएँ।** जन्म और मृत्यु के मध्य के जीवन-काल में अपनी नाम-रूप की देह से अपने को विलग करके ध्यान में यह धारणा करें, कि 'मैं मर गया हूँ', तो हमारा अमरत्व जाग्रत हो जाएगा। **जीवन-काल में जन्म-मृत्यु के छोरों में बँधी काल्पनिक देह को ध्यान में भस्मित होता हुआ देखेंगे, तो हमारा शिवत्व पद जाग्रत हो जाएगा।**

रोज़ एक-आध घण्टा अथवा दस-पन्द्रह मिनिट ध्यान में अपनी देह की भस्मी बनाकर स्वयं ही गंगा जी में प्रवाहित करें। पता नहीं देह जब उस

स्थिति को प्राप्त होगी, तो कोई उस भस्मी को गंगा जी में डालेगा भी या नही। जीवात्मा स्वयं में सहज **सुख-राशि** है। जीवात्मा का अस्तित्व परमात्मा है और देह का अस्तित्व जीवात्मा है। **'मैं'** विशुद्ध जीवात्मा हूँ, लेकिन **'तू'** है, तो **'मैं'** हूँ और **'मैं'** हूँ, तो **देह** है। इसके बाद जब हम ध्यान से उठेंगे, तो देह हमारा साथ चाहेगी, कि ''प्रभु ! मुझे अपने साथ रखिए, मुझे जब चाहे छोड़ देते हो। मेरा अस्तित्व तुमसे ही है।'' यह मानवीय मनोविज्ञान है, कि यदि अपने किसी प्रियजन अथवा सम्बन्धी के देहावसान का समाचार मिले, लेकिन बाद में पता चले, कि वह ख़बर गलत थी और वह हमारे सामने आ जाए तो फिर हम उसे अपने से दूर नहीं होने देना चाहेंगे। इस मानवीय मनोविज्ञान का लाभ उठाओ। इसी प्रकार हम ध्यान में देह के लिए आँसू बहाकर फिर उठेंगे और देखेंगे, कि देह तो है, तब देह भरपूर स्वाद देगी:—

''मैं तो नाला हूँ ज़िन्दगी से मगर,
ज़िन्दगी मुझसे प्यार करती है,
मैंने कितना इसे ज़लील किया,
फिर भी कमबख़्त मुझ पे मरती है।''

यही जीवात्मा के लिए वह यथार्थ का धरातल है, जहाँ से सद्गुरु के श्रीमुख से निःसृत वचनों, गीता, रामायण, वेद, पुराण, उपनिषद् आदि ग्रन्थों का अधिग्रहण हो सकता है। **भगवान श्रीकृष्ण योगीश्वर हैं, वे निराकार भी हैं और साकार भी हैं। उनके श्रीमुख से निःसृत गीता के शब्दों का अधिग्रहण यथार्थ भूमि पर ही हो सकता है, क्योंकि ये शब्द यथार्थ के श्रीमुख से, यथार्थ के लिए निःसृत हैं।** इनका प्रकाट्य यथार्थ से हुआ है, तो इसका अधिग्रहण भी यथार्थ धरातल पर आकर ही होगा। ईश्वर यथार्थ है, 'सद्' है। जीवात्मा उसी का अंश है। आज तक इतने वेद, वेदान्त, पुराण, श्रुतियाँ, उपनिषद्, गीता, रामायण आदि ग्रन्थों का प्रकाट्य हो चुका, लेकिन फिर भी हम भ्रमित हैं। क्योंकि अभी भी हम उसी अज्ञान के अन्धकार में भटके हुए हैं। हमारा ऊर्ध्वगमन तो क्या होना था, हम अधोगामी ही होते जा रहे हैं।

मूलतः गलती यह हुई, कि हम जन्म और मृत्यु के बीच काल्पनिक देह और उस देह को 'मैं' मानकर, काल्पनिक बुद्धि से यथार्थ के मुख से निःसृत शब्दों को पकड़ना चाहते हैं और उसके काल्पनिक अर्थ ही निकालते जा रहे हैं। इससे उस यथार्थ का हम अनर्थ ही कर देते हैं, कि कृष्ण ने गीता में कहा है, कि 'कर्म कर और फल मेरे ऊपर छोड़ दे।' हमारे पास क्या प्रमाण है, कि जो हम कर रहे हैं, वही वह कर्म है, जिसकी चर्चा श्रीकृष्ण ने अर्जुन से की थी। **पहली बात तो यह है, कि हमारा अपना कोई कर्म है ही नहीं। जो भी हमारे द्वारा होता है, वह हमसे करवाया जाता है।** हम स्वयं को देह मानने के कारण समझते हैं, कि हम कर रहे हैं। मैं बार-बार अपने प्रवचनों में कहता हूँ, कि हम इस संसार में स्वयं नहीं आए हैं, बल्कि लाए गए हैं। जब वह लाने वाला चाहेगा, निकाल दिए जाएँगे। हमारे जन्म से पहले भी सृष्टि चल रही थी और मृत्यु के बाद भी सृष्टि चलती रहती है। तो उससे यह जानना परमावश्यक है, कि वह हमें इस पृथ्वी पर लाया क्यों है? यदि हम नहीं जानते तो इसमें कोई गुनाह नहीं है, लेकिन हम जानना भी नहीं चाहते और स्वयं जीवन, समाज, देश यहाँ तक कि विश्व के लीडर बनने के भ्रम में भटकते रहते हैं। **और तो और गीता के मर्मज्ञ और वक्ता बन जाते हैं। स्वयं ही नहीं, अपने बच्चों को भी अपनी तरह बनाना चाहते हैं।**

हम निस्सन्देह सब प्रकार से काल्पनिक देह में विचर रहे हैं और इसी देह व बुद्धि से इन यथार्थ ग्रन्थों को भी पढ़ना व समझना चाहते हैं। इसीलिए अर्थ का अनर्थ कर देते हैं। स्वयं भ्रम में रहते हैं, कि मुझे गीता और रामचरित मानस पूरी कण्ठस्थ है, मैं गीता का मर्मज्ञ हूँ। **सत्यानुभूति से पहले हमें असत्य की अनुभूति होनी परमावश्यक है।**

सद् से पहले यह तो जान लो, कि जन्म-मृत्यु की काल्पनिक देह को 'मैं' मानकर हम 'सद्' का स्पर्श भी नहीं कर सकते। जो भी करेंगे असद् ही होगा। किसी रोगी का रोग ठीक होना तब प्रारम्भ होता है, जब वह स्वयं आश्वस्त हो जाता है, कि वह रोगी है और उसे किसी भी कीमत पर

स्वस्थ होना है। इलाज से पहले **बीमारी** का Realisation आवश्यक है। **'सद्'** को Realise करने से पहले **'असद्'** की Realisation होनी आवश्यक है। **इन शास्त्रों से पहले हम स्वयं को जान लें, कि हम कौन हैं? यदि हम स्वयं को देह ही मान रहे हैं, तो सद् की तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते।** मैं भगवान के श्रीमुख से निःसृत यथार्थ गीता जानना चाहता हूँ, साथ ही मैं निरर्थक को, यथार्थ व सार्थक माने हुए हूँ। इन ग्रन्थों को जानने व सद्गुरु के वचनों के अधिग्रहण के लिए ईश्वर ने चार दिव्य बुद्धियाँ दी हैं—प्रज्ञा, मेधा, विवेक व ऋतम्भरा। तीन घण्टे तक यदि हम एक शिला की तरह अपनी देह को स्थिर करके निश्चल बैठ सकते हैं, तो आसन-सिद्धि आ जाती है और हमारी ये दिव्य बुद्धियाँ जाग्रत हो जाती हैं। ये बुद्धियाँ मेरे स्वयं को देह मानते ही आच्छादित हो जाती हैं और हम इन ग्रन्थों को भी अपनी आई. क्यू. वाली बुद्धि से समझना चाहते हैं। जबकि इन्हें पल्ले डालने के लिए इस बुद्धि का परम शान्त और सम होना आवश्यक है। **दिव्य बुद्धियों की जागृति के लिए इस आई. क्यू. वाली बुद्धि का सम होना ज़रूरी है। इसे सम करने की कला हम में होनी आवश्यक है। इसी को समाधि कहते हैं। जहाँ बुद्धि सम हो जाती है—सम+धी=समाधि।**

हमारा जीवन अनुशासित हो, आहार-व्यवहार सीमित हो, निद्रा और जागृति पर नियन्त्रण हो और सबसे महत्त्वपूर्ण है, कि सद्गुरु की हम पर कृपा हो। तभी आप गीता, रामायण आदि ग्रन्थों तथा सद्गुरु के श्रीमुख से निःसृत वचनों का अधिग्रहण कर पाएँगे।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(11 दिसम्बर 2005)

लिप्तताएँ

(Involvements)

हमें मानव-जीवन स्वतन्त्र होने के लिए मिला है। ईश्वर-अंश एक ही जीवात्मा, स्वयं को देह मानने की भयंकर भूल के कारण जीव बना हुआ युगों-युगान्तरों से अनेकों जन्मों-जन्मान्तरों में विभिन्न नाम-रूपों में भटक रहा है। प्रभु-द्वारा इसे जो एक नाम-रूप की देह दी जाती है, उसे अपना स्वरूप मानकर छोटा सा निजी संसार बनाता है और जीव-सृष्टि में फँसता ही चला जाता है। जन्म-मृत्यु के काल में बँधी देह, अवधि समाप्त होने पर चली जाती है, लेकिन उसके साथ तद्रूपता के कारण विभिन्न लिप्तताएँ उसके मानस पर पड़ी रहती हैं। वह एक नाम-रूप की देह छूटती है, लेकिन आसक्तियों से पूरित मानस-देह ज्यों की त्यों रहती है। **उन्हीं आसक्तियों भरी लिप्तताओं के कारण** इसे पुनः एक देह मिलती है, जिसका पहली देह और उस पर आधारित सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं होता तथा यह पुनः जीव-सृष्टि बनाता है। **अतः हमारी ये लिप्तताएँ ही भव-बन्धन का कारण हैं।**

ईश्वर-चिन्तन और अपने सद्-स्वरूप की अनुभूति में सबसे बड़ी मानवीय बाधा या अड़चन, हमारी अपनी ही ये लिप्तताएँ हैं। **जो कुछ भी हमारे दिल-दिमाग व तन्त्रिका-तन्त्र में इतना घूमने लगे, कि हमें अपने ही सद्-स्वरूप, इष्ट व सद्गुरु की सम्मुखता में बाधा बनने लगे वही हमारी Involvements या लिप्तताएँ हैं।** ये **लिप्तताएँ** मुख्यतः तीन प्रकार की होती हैं—अल्पकालीन, दीर्घकालीन और अनन्तकालीन। धन-प्रौपर्टी, स्त्री-पुरुष, मित्र-शत्रु, पाप-पुण्य, परिवार-समाज, देश-विदेश, पद-व्यवसाय,

जन्म-मृत्यु, मिलन-विछोह, धर्म-कर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, खोना-पाना यानि जितना भी भौतिक, सांसारिक, मायिक पसारा है, उससे सम्बन्धित कोई भी समस्या कभी-कभी दो-चार दिनों की ही होती है, जिसके कारण मस्तिष्क में तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, उन्हें **अल्पकालीन लिप्तताएँ** कह सकते हैं। कई बहुत लम्बी (**दीर्घ कालीन**) होती हैं तथा कई आजीवन (**अनन्त कालीन**) रहने वाली समस्याएँ होती हैं जिनकी उपेक्षा हम कर ही नहीं सकते। इनमें से अनेक लिप्तताएँ हमें अपने इष्ट व सद्गुरु के निकट भी ले जाती हैं और कइयों के कारण हम अपने इष्ट व सद्गुरु से दूर भी हो जाते हैं। अर्थात् किन्हीं लिप्तताओं के कारण हम पुरुषार्थ कर्मों से ही दूर हो जाते हैं। यह विषय बहुत ही व्यावहारिक एवं महत्त्वपूर्ण है। हमें मानव-देह मिली है, जो उस परमपिता परमेश्वर की सर्वोत्कृष्ट एवं अति चमत्कारिक रचना है। हम अपने एक नाम-रूप की देह के साथ बँध कर उस पर आधारित छोटे से जगत में घूमते हुए जन्म-दर-जन्म भटकते रहते हैं। **विभिन्न जन्मों में मिली देहें चली गईं, लेकिन उन पर आधारित जगत की लिप्तताएँ मानस पर पड़ी रह गईं और हम अपने ही बनाए मकड़जाल में फँसते चले गए।**

यहाँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है, कि **कोई भी देह हमसे कभी नहीं बँधी। जब भी देह मिली, हम ही देह के साथ बँधे।** कोई देह कभी मेरे रुटीन से नहीं चलती। इसके जन्म से लेकर मृत्यु तक इसका अपना कार्यक्रम है, यदि देह मेरे साथ लिप्त होती, तो जाते समय पूछती, कि मुझे कब छोड़ोगे, लेकिन यह बिना मुझसे कुछ कहे चली जाती है। देह को लेकर **मैं** व्यर्थ ही अपने प्रोग्राम बनाता हूँ, यह तो मुझे लेकर अपना प्रोग्राम नहीं बनाती। इसे यदि बीमार पड़ना है तो पड़ेगी, चाहे मेरा कितना भी आवश्यक कार्य पूरा न हो पाए। देह से सम्बन्धित कोई दुःख, रोग, कष्ट, आपात्कालीन स्थितियाँ मुझसे पूछकर नहीं आतीं, मेरे कार्यक्रमों से उनका कोई लेना-देना नहीं होता। फिर भी मैं इस देह और देह पर आधारित जगत से बँध जाता हूँ, इसीमें लिप्त रहता हूँ। वास्तव में ये **लिप्तताएँ (Involvements)** तब होती

हैं, जब मैं उस देह और देह पर आधारित जगत के लिए ही कुछ न कुछ करता रहता हूँ। तब वह देह और जगत दोनों मेरे विरुद्ध होकर मेरे लिए सबसे बड़ी बाधा बन जाते हैं। लेकिन जब मैं **'देह काहे के लिए है,'** यह जानने के लिए कुछ सत्संग, ध्यान-धारणा, चिन्तन-मनन, जप-तप, यज्ञ-हवन, दान-पुण्य आदि करता हूँ, तो देह ही सारी बाधाएँ हटा कर सहायक हो जाती है। **'मैं देह हूँ' 'देह मेरी है' ये भाव ही मेरी involvements के मुख्य कारण हैं।**

एक नवजात शिशु माँ की गोद में निश्चिन्त खेलता रहता है, वह किसी में लिप्त नहीं है, क्योंकि वह अपनी देह से लिप्त नहीं है। उसे **'मैं देह हूँ'** के रूप में देहाध्यास नहीं है। तथाकथित होश सम्भालने पर वह देह के साथ बँधकर अपने सारे जगत को भी विचलित करता है। **मैं स्वयं ही अपने को वह नाम-रूप की देह मान लेता हूँ, तो वह देह और उस पर आधारित समस्त जगत भी मेरे गले पड़ जाता है।** यहाँ तक कि हमारे स्वजन भी हमारी चिन्ताओं से प्रभावित होते हैं। **मेरी नाम-रूप की अवचेतना की मूर्खता ही मुझे कर्म-बन्धन तथा पाप-पुण्य में फँसाती है।** जैसा अक्सर लोगों को हमने कहते सुना है, कि इस जन्म में तो मैंने कोई बुरा काम नहीं किया, लगता है पिछले जन्म के पापों की सज़ा भुगत रहा हूँ। पूछो, कि आपका नाम क्या है? कि गिरधारीलाल और पिछले जन्म में आपका नाम क्या था? कि पता नहीं। लेकिन इतना अवश्य पता है, कि गिरधारीलाल नहीं था। तो कर्म किसी और नाम-रूप में किया और भुगत इस नाम-रूप में रहे हो। **नत्थूलाल मेहता ने कर्म किया और गिरधारीलाल भुगत रहा है। किसी और के पापों की सज़ा तुम क्यों भुगत रहे हो? क्योंकि तुम्हारी 'मैं' देह से चिपकी हुई है। देह 'मैं' के साथ नहीं बँधी, मैं देह के साथ सद्रूप हो गया।** एक ही जन्म में यह देह कितने-कितने रूप बदलती है। बचपन वाला नाम-रूप भी 'मैं' हूँ, अविवाहित युवा रूप भी मैं हूँ, विवाहित भी मैं हूँ, एक बच्चे का पिता भी 'मैं' हूँ और दो बच्चों का पिता भी 'मैं' हूँ, अब वृद्ध व्यक्ति भी 'मैं' हूँ। क्या कभी कोई कहता है, कि कल रात को सपने में मैंने

चोरी कर ली थी और आज उसकी सज़ा भुगत रहा हूँ। पाप या पुण्य देह से किया गया, क्योंकि मैंने स्वयं को देह मान लिया, इसलिए मैं कभी पापी, कभी पुण्यी हो गया।

हम यह मानते हैं, कि हमें अपनी यह देह प्रारब्धवश मिली है। प्रारब्धवश ही हमें अपने माता-पिता, भाई-बहन तथा हमारा समस्त सूक्ष्म जगत मिलता है। ज़रा यह तो सोचें, कि यदि मुझे मेरे प्रारब्ध से देह और माता-पिता आदि मिले तो माता की किस्मत से उसे मैं मिला। पिता के प्रारब्ध से मैं पुत्र रूप में उन्हें मिला। प्रारब्ध से मुझे एक पत्नी मिली और पत्नी के प्रारब्ध से उसे मैं मिला। **यह तो सोचें, कि प्रारब्ध वास्तव में किसका था, जिसके कारण यह देह मिली। हमारे समस्त सूक्ष्म जगत का प्रारब्ध भी तो हमसे जुड़ा है।** हमारे हर्षित व तनावित होने का प्रभाव उन पर भी पड़ता है। अतः प्रारब्ध वास्तव में किसका है? क्या मानव-देह धारण करके यह सब जानना आवश्यक नहीं? हम अन्धों की तरह से जीवन कैसे बिता सकते हैं, कि मैं अपने कर्मों का फल भुगत रहा हूँ। **आँखें बंद करके हमें प्रकाश भी अन्धकार दिखेगा और अंधकार तो अंधकार है ही।** हम यह नहीं जानते और न जानना ही चाहते हैं कि वास्तव में जीवन से हम चाहते क्या हैं? जीवन क्या है?

मान लो 'मैं' डॉ. शिवकुमार उत्तरकाशी के अपने घर में सोया हुआ हूँ और एक स्वप्न देख रहा हूँ, जिसमें मैं डॉ. शिवकुमार आप सबको दिल्ली में प्रवचन दे रहा हूँ। मान लो यह मेरा स्वप्न है। यहाँ दो शिवकुमार हो गए, एक शिवकुमार उत्तरकाशी में अर्द्धसुषुप्तावस्था में है और एक स्वप्न का यह शिवकुमार है, जो आपको प्रवचन दे रहा है। मेरा स्वप्न टूटता है, तो मैं उत्तरकाशी में अपने बिस्तर पर स्वयं को पाता हूँ और जागकर इस स्वप्न पर विचार करता हूँ। आपमें से कुछ लोगों को फोन करता हूँ, कि मैंने स्वप्न में आपको प्रवचन दिया। आप एक सीमा तक मेरी बात सुनेंगे, फिर कहेंगे, कि छोड़ो कुछ और बात करो। वह आपका स्वप्न था। **इस स्वप्न का दृष्टा स्वप्न का शिवकुमार है, जिसने स्वयं को प्रवचन देते देखा और वर्णन**

तथाकथित जाग्रत शिवकुमार कर रहा है, जो उत्तरकाशी में है। जागे हुए शिवकुमार ने तो स्वप्न देखा ही नहीं, क्योंकि वह तो उत्तरकाशी में रात को जिस बिस्तर पर सोया था, उसी से उठा है। वह तो दिल्ली गया ही नहीं। **वह स्वप्न वाली देह मैं हूँ ही नहीं, मैं पूर्णतः आश्वस्त हूँ। तो दोनों की स्मृति एक जैसी कैसे है?** स्वप्न वाली देह तो थी ही नहीं, तो उसका दिमाग कैसे हो सकता है? लेकिन इस सम्पूर्ण स्वप्न-सृष्टि का आधार 'मैं' स्वप्न वाला शिवकुमार ही था, क्योंकि उस सृष्टि से कोई दूसरा उठ कर चला जाता है, तो मेरा स्वप्न नहीं टूटता, लेकिन मेरे उस जगत से हटते ही वह समस्त सृष्टि लुप्त हो गई। **स्वप्न देखते समय तो मुझे यह प्रतीति ही नहीं थी, कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ और स्वप्न में ही लोगों को प्रवचन दे रहा हूँ।** लेकिन उस समस्त सृष्टि का आधार 'मैं' स्वप्न वाला शिवकुमार था और उसके स्वप्न से हटते ही मेरे सहित वह समस्त सृष्टि लीन हो गई। मेरे द्वारा ही मिथ्या और स्वप्न घोषित कर दी गई। उस स्वप्न में इतने सारे लोग प्रकट हुए, उनका जन्म-दिन कौन सा था। स्वप्न में मेरे साथ सबका एक अतीत भी था और एक भविष्य भी था। स्वप्न की सृष्टि लगभग ऐसी ही होती है, जैसी कि हम अपने चारों ओर देख रहे हैं। उस सृष्टि की भी भूत, वर्तमान और भविष्य काल की तीनों विधाएँ होती हैं।

मैं, जो तथाकथित जागकर स्वप्न का किस्सा सुना रहा हूँ, पूरी तरह से आश्वस्त हूँ, कि मैं वह स्वप्न वाला शिवकुमार नहीं हूँ। क्योंकि मैं तो दिल्ली गया ही नहीं। **स्वप्न की वह समस्त घटना स्वप्न वाले शिवकुमार के साथ घटी थी, अब मैं वह बिल्कुल नहीं हूँ। तो दोनों की स्मृति एक जैसी कैसे है, मैं स्वप्न वाली घटना किस स्मृति से और कैसे सुना रहा हूँ?** वह घटना केवल मैं ही सुना सकता हूँ, क्योंकि आपमें से किसी को तो उसका आभास भी नहीं है। दोनों शिवकुमार एक जैसे कैसे हो सकते हैं? स्वप्न वाले शिवकुमार ने ही वह स्वप्न देखा था, मैंने तो देखा ही नहीं। फिर मैं स्वप्न की उस समस्त घटना का वर्णन कैसे कर सकता हूँ! एक बार मैंने स्वप्न में देखा, कि जंगल में एक शेर मेरे पीछे लग गया। मैं भागा तो पेड़ से टकरा

गया, मेरा माथा फूट गया और खून बहने लगा। तभी मेरी नींद खुल गई। मैंने देखा, न जंगल है, न शेर, न पेड़ है, जिससे मैं टकरा गया था और मेरा माथा भी ठीक-ठाक है। मैंने अच्छी तरह से देख लिया, कि मैं वो नहीं हूँ, जिसे टकराने से सिर पर खून निकला था। लेकिन फिर भी मैं सबको बताता हूँ, कि मुझे बड़ा डरावना सपना आया। जंगल में मेरे पीछे शेर लग गया था, मुझे पेड़ से टकराने से चोट लगी, खून बहा आदि-आदि। **जाग्रत होकर मैं यह विचार ही नहीं करना चाहता, कि उस स्वप्न वाले शिवकुमार के साथ मेरा सम्बन्ध क्या है।** धीरे-धीरे उसे सपना मानकर भूल जाता हूँ। **स्वप्न तो निश्चित रूप से स्वप्न ही था, लेकिन यह जागृति अवश्य ही तथाकथित जागृति है।** स्वप्न, स्वप्न कब घोषित हुआ, जब मैं जागा। स्वप्न में तो डरा ही रहा, यद्यपि मैं सोया हुआ था। **स्वप्न में डरा हुआ शिवकुमार, अब जागकर पूर्ण आश्वस्त हो गया, कि मैं वह नहीं था।** लेकिन मुझे उस डरे हुए अपने भयभीत रूप की भी स्मृति है। **वास्तविकता तो यह है, कि मैं उसी शिवकुमार का रूपान्तरण हूँ। यदि मैं उसका रूपान्तरण न होता, तो स्वप्न का वर्णन मैं कैसे कर सकता था ! मैं एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में प्रवेश कर जाता हूँ, यह जागृति भी तथाकथित जागृति है। प्रत्येक स्वप्न स्वयं में एक इकाई है। किसी स्वप्न का पहले स्वप्न से सम्बन्ध नहीं होता, मात्र रूपान्तरण होता है।**

यदि जीव है, तो वह एक ही है। जागकर स्वप्न का वर्णन करने वाला शिवकुमार तथाकथित जाग्रत है। स्वप्न वाला जो शिवकुमार है, वह जीव है और समस्त स्वप्न उसकी जीव-सृष्टि है। स्वप्न टूटता है, तो वह सृष्टि लीन हो जाती है और उसका रूपान्तरण हो जाता है। वही जीव रूपान्तरित होकर इस तथाकथित जागृति वाली, स्वप्न-सृष्टि में आ जाता है। इस प्रकार हम पहले वाले स्वप्न का वर्णन इस तथाकथित जागृति में करते हैं, कि मुझे यह स्वप्न आया, मेरे साथ ऐसा-ऐसा हुआ।

प्रत्येक स्वप्न स्वयं में एक इकाई है, जिसका अपना भूत और अपना भविष्य है। जहाँ से स्वप्न-रूप में एक सृष्टि प्रकट होती है, वहीं लीन हो

जाती है और वास्तव में कुछ नहीं हुआ होता। अगले स्वप्न से इस पहली वाली स्वप्न-सृष्टि का कोई सम्बन्ध नहीं होता, फिर दूसरा स्वप्न आता है, जो उसीका रूपान्तरण पृथक् जीव-सृष्टि होती है, जिसका पृथक् भूत-भविष्य होता है। **स्वप्न का कल कभी नहीं आता। जागने पर काल की तीनों विधाओं सहित, वह समस्त सृष्टि लीन हो जाती है। स्वप्न कुछ क्षणों का होता है, उसमें एक जीव अनेकों के साथ कभी-कभी वर्षों की सृष्टि में विचरता है और जागने पर आश्वस्त हो जाता है, कि न तो मैं वह स्वप्न वाली देह हूँ और शेष सब कुछ भी सपना था।** उस स्वप्न में जो कुछ भी लेना-देना, सुख-दुःख, भूत या भविष्य की योजनाएँ-परियोजनाएँ बनीं, वह सब कुछ नहीं था।

एक निराकार मानस से एक सम्पूर्ण **साकार** और **सकाल** जीव-सृष्टि प्रकट हुई और उसी में समाहित हो गई। वह सारी सृष्टि उस समय के अनुसार थी, उस सम्पूर्ण सृष्टि का आधार स्वप्न वाली एक नाम-रूप की देह थी, जो स्वयं में नहीं थी। न कोई कहीं आया, न गया। मेरी स्वप्न की वह देह ही जीव है। जीव यदि है तो वह एक ही है। अब तथाकथित जागृति में, मैं उसे महात्म्य दे रहा हूँ, कि मुझे ऐसा सपना आया, इसका अर्थ क्या हुआ? जो मैं तथाकथित जागा हुआ हूँ, उसमें मैं एक निश्चित स्वप्न का वर्णन कर रहा हूँ। स्वप्न वाले एक जीव ने जो भी देखा, उसकी यथा-तथ्य स्मृति उस एक को ही है, लेकिन जिस दूसरे को स्वप्न सुना रहा हूँ, वह स्वप्न वाला वह व्यक्ति नहीं है, जो मेरे साथ स्वप्न में निश्चित रूप से था। मैं किसी को, कुछ भी सुनाऊँ, कि तुमने मेरे साथ स्वप्न में यह किया, वह मान लेगा, कि जो चाहे सुना लो, आपका ही तो स्वप्न था। आपने मुझे अपने स्वप्न में देखा था, मैंने तो आपको नहीं देखा, क्योंकि वह मेरा स्वप्न नहीं था।

यदि आप गहन आध्यात्मिक रहस्यों की अनुभूति करना चाहते हैं तो आप अपने स्वप्न का विश्लेषण करिए। स्वप्न का एक विशिष्ट देश-काल, विभिन्न लोग, सम्बन्ध, विभिन्न प्रतिभाएँ आदि हैं और उस स्वप्न की सम्पूर्ण सृष्टि का अपना भूत, भविष्य भी होता है। उस स्वप्न में भी हम भविष्य की

योजनाएँ बनाते हैं, कि अगले दिन यह करेंगे। वह अगला दिन कभी नहीं आता, क्योंकि **प्रत्येक स्वप्न स्वयं में एक इकाई होता है, जिसकी सारी प्रस्तुति अकाल व निराकार मानस से होती है। 'मैं'** विशुद्ध जीवात्मा एक से अनेक बना और अनेकों में एक ही था। **स्वप्न सुनाने वाला व्यक्ति अपने स्वप्न वाले रूप का रूपान्तरण होता है।** जैसे कभी-कभी हम अपने बचपन की कोई बात याद करते हैं, कि जब मैं इतने वर्ष का था, मैं वहाँ गया था और मेरे साथ यह हुआ। तो उस समय मैं अपने उस बचपन वाले रूप का तात्कालिक रूपान्तरण होता हूँ। जिस अतीत का मैं वर्णन कर रहा हूँ, वह मेरा अभी का भूतकाल है। **जितना भी हमारा जीवन व्यतीत हुआ है, उसमें हम यदि ध्यान दें तो पाएँगे, कि किसी विशेष समय में हमें भूतकाल की विशेष घटनाएँ याद आती हैं। तो उस समय हम उस भूत के तात्कालिक भविष्य होते हैं। उसी की निरन्तरता होते हैं। वह पूरा प्रकरण व समय एक स्वप्न की इकाई के समान होता है।** कई बार केवल हमें दुःख की घटनाएँ ही याद आती हैं, हमेशा हमें हर बात याद नहीं आती। एक विशेष मानसिक स्थिति में विशेष बातें ही स्मृति में कौंधती हैं। इस समय जो-जो बातें याद आ रही हैं, उससे हम अपने वर्तमान का अनुमान लगा सकते हैं। भूतकाल की कोई शोक की घटना यदि हम सुनाने लगें, तो समझदार व्यक्ति यही कहेगा, कि छोड़ो आनन्दमयी बात करो, ताकि हमारा वर्तमान उससे प्रभावित न हो जाए। यदि हम स्वयं विषादपूर्ण मानसिक स्थिति में हैं, तो यदि अखबार भी पढ़ेंगे तो उसमें भी हमें वैसी ही दुःखद खबरें नज़र आएँगी। एक ही मानस से सब प्रस्तुति होती है, जिसका **आधार एक नाम-रूप धारी जीव ही होता है।** उस जीव की रूपान्तरित निरन्तरता सी अगली स्वप्न-सृष्टि है, जिसमें उसकी सृष्टि बदल जाती है, जिसका पहली वाली सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं होता। **जीव की निरन्तरता है, लेकिन सृष्टि की निरन्तरता नहीं है।**

जीवात्मा टस से मस नहीं होता। वहीं का वहीं अपने असंख्य रूपान्तरणों को देखता रहता है। विभिन्न सृष्टियों को देखता है, जिनको

रचने वाला वह नहीं है। उसका रचयिता परमात्मा है, जिसका वह अंश है। लीला का रचयिता एक ही है, लेकिन जब उसकी प्रस्तुति होती है, तो द्वैत में होती है। जीव अपनी जीव-सृष्टि को विभिन्न रूपों में देखता है। हम एक स्वप्न का वर्णन दूसरे स्वप्न में करते हैं। जैसेकि मैं कहूँ, कि 'मुझे जगाना मत मैं सो रहा हूँ, क्योंकि स्वप्न में मैं बहुत व्यस्त रहा। तीन दिन लगातार काम करता रहा, बहुत थक गया हूँ।' तो सुनने वाला यही तो कहेगा न कि चलो तुम्हें किसी मनोचिकित्सक को दिखा दूँ, जो तुम्हारी तरह से पागल न हो। वास्तव में हम विभिन्न स्वप्नों में स्वप्नों का वर्णन करते हुए ही व्यस्त हैं। **मेरा जीवात्मा स्वरूप टस से मस नहीं होता। वह ईश्वर का अंश है, जो *'न कित आएबो न कित जाएबो'* स्वयं में ठोस-घन-शिला है।** हम युगों-युगान्तरों से एक मोह-निद्रा में हैं, विभिन्न स्वप्न देखते हुए स्वयं को पापी-पुण्यी, कर्मठ, परोपकारी, समाज-सेवक न जाने क्या-क्या माने हुए हैं। **मान-अपमान, लाभ-हानि, सुख-दुःख, आशा-निराशा की इस स्वप्निल निद्रा से हम कभी जागे ही नहीं।** यह मोह-निद्रा इस अज्ञान की ही नींद है, कि 'मैं देह हूँ' और 'देह मेरी है', यही हमारी लिप्तताओं का मूल है। इन्हीं बन्धनों में हम भ्रमित से जन्मों-जन्मान्तरों के काल-चक्र में धक्के खा रहे हैं।

जीवात्मा एक ही है और जीव भी एक ही है। उस जीवात्मा को जब भ्रम हुआ, कि मैं यह देह हूँ, तो वह जीव बन गया। उसकी विशुद्ध **'मैं'** मोह या अज्ञान की गहरी नींद में सो गई। वह सुषुप्त **'मैं'** विभिन्न स्वप्नों की जीव-सृष्टियों में रूपान्तरित होती हुई भटकने लगी। इन समस्त सृष्टियों का न तो वह निर्माता था और न ही पालनकर्ता एवं संहारकर्ता था। वह समस्त सृष्टि समय-समय पर चलकर उसी में लीन हो जाती थी। उस समस्त सृष्टि का आधार एक नाम-रूप की देह थी, जो जीव के रूप में उस समस्त सृष्टि की प्रतिनिधि थी। **उस देह रूप में जब तक 'मैं' उसमें रहता है, मेरा स्वप्न नहीं टूटता, स्वप्न तब टूटता है, जब उसमें 'मैं' देह रूप में नहीं रहता। यह प्रस्तुति मेरी सृष्टि नहीं है, बल्कि एक निराकार मानस से प्रस्तुत एक इकाई है, जिसमें एक देह रूप में 'मैं' भी हूँ और अन्य बहुत**

से लोग हैं और उस प्रस्तुति का आधार उस देह रूप में मैं ही हूँ। अतः जीव है तो एक ही और स्वयं को एक से अनेकों रूपों में देखता है। न तो वह एक उसके हाथ में है, न अनेक उसके हाथ में हैं। लेकिन यहीं वह लिप्त हो जाता है, कि मैंने उसे इतना दिया, उसके लिए यह-यह किया, लेकिन उसने मेरे साथ बहुत बुरा किया। मैं बहुत व्यस्त रहा, दूसरे निठल्ले बैठे रहे। जो निठल्ले बैठे रहे, वे भी तुम्हारे ही विभिन्न रूप थे। जो बहुत व्यस्त था, वह भी तुम थे, लेकिन दोनों तुम्हारे हाथ में नहीं थे। अगर कोई व्यस्त था, तो उसका कारण भी ईश्वर था, जो उससे सब कुछ करवा रहा था, यदि कोई खाली था, तो वह भी उसी के कारण निठल्ला था, क्योंकि ईश्वर उससे करवाना नहीं चाहता था। लेकिन वह सब कुछ तुम्हारी इकाई में था, जिसका आधार तुम ही थे। **यदि स्वप्न में यह ज्ञान हो जाए, कि यह स्वप्न है, तो उसका आनन्द आ जाए,** क्योंकि उसमें किसने, किसको कुछ दिया या लिया? उस सम्पूर्ण सृष्टि में भेद कैसा, मर्यादाएँ-अमर्यादाएँ कैसी? लेकिन जब हम जागेगें तब पता चलेगा, कि वह स्वप्न था। दुर्भाग्य यह है, कि एक वास्तविक स्वप्न से तथाकथित जाग्रत होकर हम दूसरे तथाकथित स्वप्न में आ जाते हैं। उस तथाकथित जागृति में पहली सृष्टि को स्वप्न घोषित करते हैं। जो स्वप्न का वर्णन कर रहा है, वह अपने उसी रूप का रूपान्तरण होता है, Continuity नहीं होता।

एक जीवात्मा इष्ट-कृपा से एक रूप लेता है और वह देह धारण करके सारे ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधित्व करता है। उस देह के साथ जब जीवात्मा को यह भ्रम हो जाता है, कि यह **'मैं'** हूँ, तो वह जीव बन जाता है। जीव बनकर वह न जाने किन-किन सृष्टियों में विचरण करते हुए पुण्यी-पापी, सुखी-दुःखी होता रहता है, कि मैं पूर्वजन्म में किए गए कर्मों का फल भुगत रहा हूँ। **पूर्व जन्म क्या, तू एक क्षण पहले जो था, वह अब नहीं है। जीवात्मा स्वयं में निराकार है, उसके खेलने के लिए समस्त साकार सृष्टि बनती है।** उसमें एक देह रूप में जीव उस जीवात्मा का प्रतिनिधि होता है। **इस प्रकार वह जीवात्मा देह के रूप में जीव बनकर उस सम्पूर्ण**

साकार सृष्टि का आधार होता है। जीवात्मा का अस्तित्व व कारण परमात्मा है। उस एक देह के साथ जीवात्मा को तद्‌रूपता हो जाती है, कि यह मैं हूँ। मुझे स्वप्न आया तो जीवात्मा स्वयं जीव बन जाता है। वह देह जो निराकार मानस का प्राकट्य है, जीवात्मा उसमें लिप्त होकर अनेक बन्धनों में फँसता चला जाता है। स्वप्न में कुछ लोगों को जन्मते-मरते देखकर अपना जन्म और मृत्यु भी मानने लगता है, जबकि स्वयं को इसने कभी पैदा होते नहीं देखा। **जो थे ही नहीं उनकी जन्म-मृत्यु देखता है और जो उस स्वप्न का आधार एक देह थी, उसे मैं मानकर अपनी जन्म-मृत्यु की कल्पना कर लेता है।**

इस प्रकार यह समस्त स्वप्न-सृष्टि इन्द्रजाल व माया है। इस माया के सद् की जिसने अनुभूति कर ली, **वही जाग गया और वही जीवन में सफल है, जो जाग गया।** इस स्वप्न-सृष्टि से बाहर निकलने का बस एक ही रास्ता है, कि हम यह सोचें, कि यह जो सृष्टि मेरे सम्मुख विभिन्न रूपों में प्रकट होती है, उसका कारण मैं नहीं हूँ। वह एक निराकार मानस की प्रस्तुति है, जिसका कर्ता-धर्ता या सूत्रधार कोई और है। इसे Realise करने का एक ही रास्ता है, कि हम जन्म और मृत्यु के काल्पनिक किनारों से स्वयं को बाहर निकाल कर यथार्थ-भूमि पर आएँ। अपना जन्म मान लिया तो जीवन के इस प्रारम्भ का एक प्रारम्भारम्भ है। जिस देह का मैंने जन्म माना, माँ के गर्भ में उसके लिए गर्भाधान हुआ था। मेरी देह का वह स्वरूप अकाल था और निराकार था। क्योंकि न तो उस समय की गणना आज तक कोई बुद्धि कर सकी है और न ही उस भ्रूणावस्था को नग्न नेत्रों से देखा जा सकता है। **वह प्रारम्भारम्भ सबका एक ही है।** इसी प्रकार इस देह का जब मैंने जन्म मान लिया तो मृत्यु अवश्यम्भावी है। जन्म तो हो गया, मेरी जानकारी में नहीं था, यद्यपि स्वयं को जन्मते नहीं देखा, फिर भी अपना जन्म मान लिया, तो मृत्यु भी अवश्य होगी। मृत्यु, जीवन व देह का अन्त है, लेकिन इसका भी एक अंतान्त है, जब यह देह भस्मी में परिणत हो जाएगी। देह का वह स्वरूप भी अकाल एवं निराकार है और यह अंतान्त भी सबका एक ही है। स्पष्ट है, कि

निराकार व अकाल से साकार एवं कालबद्ध सृष्टि की प्रस्तुति होती है और निराकार एवं अकाल में विलीन हो जाती है। **प्रारम्भारम्भ सबका एक ही है और अंतान्त सबका एक ही है। इस मध्य की साकार व कालबद्ध सृष्टि में एक निराकार व अकाल जीवात्मा जो परमात्मा का अंश है, एक जीव की देह के रूप में साकार व भूत, भविष्य व वर्तमान तीनों कालों को लिए कालबद्ध रूप में प्रकट होता है। वह एक ही अनेकों का आधार है और अनेकों में एक वही विभिन्न रूपों में खेलता है। लेकिन इस समस्त खेल का रचयिता, पालनकर्ता व संहारकर्ता परमात्मा है।** यदि हम इस रहस्य को पकड़ लें, जोकि मात्र कृपा-साध्य है, तो हम कभी भी देह एवं संसार में लिप्त नहीं होंगे।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(15, 16 दिसम्बर 2005)

प्राप्ति एवं भोग

(भाग 1)

जीवन में किसी भी प्राप्ति का आनन्दपूर्वक भोग करने के लिए सन्तुष्टि होना आवश्यक है अन्यथा और-और की चाह व स्पर्धा की भावना हमें निरन्तर दौड़ाती रहती है। किसी भी भोग के लिए स्थिरता आवश्यक है। सन्तुष्टि दैवीय गुण है। जीवात्मा, जीव बनकर सन्तुष्ट हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह स्वयं में सागर-स्वरूप सच्चिदानंद परमात्मा का अंश है। जीव रूप में वह गिलास से लोटा, बाल्टी, ड्रम, कुआँ और यहाँ तक कि नदिया भी बन जाए, तो भी असन्तुष्ट ही रहेगा। नदिया भी असन्तुष्ट ही भागती रहती है और अन्ततः अपने सागर-स्वरूप में लीन हो कर ही परम सन्तुष्ट हो पाती है। यहाँ उसे अपना नाम व रूप खोना पड़ता है। लेकिन गिलास जैसा है, जितने भी जल से युक्त है, यदि सीधा सागर में डूब जाए, तो वह स्वयं में परम सन्तुष्ट हो जाएगा तथा उसे अपना नाम-रूप भी खोना नहीं पड़ेगा। स्वयं में वह गिलास ही रहेगा, लेकिन उसके अधिकार सागर जितने हो जाएँगे।

इस सन्तुष्टि के लिए हमें निरन्तर आत्म-विश्लेषण करके, मूल्यांकन करते रहना होगा, कि मैं सब प्रकार से जो कुछ भी हूँ, क्या स्वयं से सन्तुष्ट हूँ? पशु यह कार्य नहीं कर सकते। **एक मानव होने के नाते हम अपना आकलन कर सकते हैं कि ''मैं किस स्थिति में हूँ, क्या कर रहा हूँ, किसलिए कर रहा हूँ, कब तक करूँगा और जो कुछ भी मैं प्राप्त करना चाहता हूँ, वह मिल भी जाए तो क्या हो जाएगा?''** हम भविष्य के बारे में

सोचते हैं, लेकिन भविष्य को भी हमने बहुत सीमित कर दिया है। हम **जीवन का** निश्चित भविष्य **'भस्मी'** छोड़ ही दें और **जीवन में** विभिन्न भविष्यों को ही ले कर चलें। विचार करें, कि जन्म और मृत्यु के बीच बँधे जीवन-काल में जो भी हम भविष्य के लिए कर रहे हैं, अगर जीते जी वह भविष्य आ जाए, हम सफल भी हो जाएँ, तो क्या हो जाएगा? **हम अभी वर्तमान में उस भविष्य को उतार लें। मान लें, कि 'हो गया'। उस स्थिति में विचरण करें, तो जो अस्थायी सी सन्तुष्टि भविष्य में उसके सफल होने पर मिलनी थी, वह अभी मिल जाएगी। हमें अनुभूति हो जाएगी, कि वह हमारी चाह थी ही नहीं।**

जीवन में भविष्यों के प्रति हमारे मन में जो भाव रहते हैं, उनके दो आयाम हैं। एक आयाम में प्रकट रूप से तो हम यह ज़ाहिर करते हैं, कि अपनी इस योजना को दो वर्ष या जो भी मेरी दृष्टि में उसके पूरा होने की अवधि है, उसमें पूरा कर लूँगा। साथ ही साथ अज्ञात रूप से मान भी लेते हैं कि वह योजना पूरी हो गई है। गर्भ में बच्चा ठहरते ही दम्पति मान लेते हैं, कि सुन्दर गोल-मटोल बच्चा हो गया, जिसके साथ कई काल्पनिक सपने बुन लेते हैं। यही भाव उस सम्पूर्ण प्रकरण के दौरान समय-समय पर उनके उल्लास अथवा तनाव का कारण बनता है। क्योंकि किसी भी तरह से और सब तरह से हम उसका प्रकाट्य चाहते हैं। **जीवन में कोई भी भविष्य हो, इसीलिए वह 'भय' और 'विष' बन जाता है।** जीवन्त वर्तमान में अज्ञात रूप से उसे सफल मानते हुए, ज्ञात रूप से हम उसके प्रकाट्य की चाह में प्रयत्नरत रहते हैं। इस सम्पूर्ण प्रकरण में योजना और चाह हमारी अपनी हो जाती है। जन्म और मृत्यु के मध्य के जीवन-काल में यही हमारे तथाकथित कर्म और उनकी गुणवत्ता है। इसीको हम अपनी कर्मठता, इच्छाशक्ति की प्रबलता और न जाने क्या-क्या नाम दिए रहते हैं।

जीवन में भविष्यों के प्रति हमारी ये मान्यताएँ **कल्पनात्मक प्रलोभनों** से युक्त होती हैं। जीवन-काल में, भविष्य में किसी प्राप्ति की मान्यता हमें उस दिशा में प्रयत्नरत करके सक्रिय नहीं करती, बल्कि अनजाने में

मानसिक रूप से जो प्राप्ति हो गई है, उसके वास्तविक प्रकाट्य की चाह करती है। **वह मानसिक प्राप्ति तो मात्र एक प्रलोभन (Temptation) होती है। 'मैं देह हूँ' इस भाव की एक लुभावनी पेशकश होती है।** जिसके वास्तविक प्रकाट्य के प्रलोभन की चाह में हम अपनी समस्त दैहिक, बौद्धिक व मानसिक शक्तियों को झोंक देते हैं। Our assumption of future in life is temptation for manifestation. We load our future as assumption which is temptation that motivates us for activation, because we want its actual manifestation. **ये प्रलोभन युक्त मान्यताएँ चाहे जाने-अनजाने में हों, मूर्खतावश हों या अति बुद्धिमत्तावश हों, उनके प्रकाट्य की चाह में किया गया समस्त प्रकरण पूरी तरह से भ्रामक, गलत, अनैतिक, धृष्टतापूर्ण (Arrogant) अनर्थकारी और विनाशकारी (Distructive) होता है। जन्म के बाद तथाकथित होश सम्भालने से मृत्यु तक हमारी समस्त क्रियाशीलता के कारण, दिशाएँ, सीमाएँ, विस्तार, पद्धति, गुणवत्ता तथा लक्ष्य ये प्रलोभनयुक्त मान्यताएँ हैं।** जीवन में भविष्यों की इन्हीं मान्यताओं का काल्पनिक प्रकाट्य मानस में लिए वास्तविक प्रकाट्य की चाह में हम तथाकथित कर्मयोगी तक बने रहते हैं। मैं इसे विस्तार से समझाऊँगा।

हमने जीवन में एक लक्ष्य बना लिया, कि मैं यह पाना चाहता हूँ, उम्मीद है, एक वर्ष में प्राप्त कर लूँगा। यह हमारी मान्यता है। साथ ही साथ अज्ञात रूप से हमारी यह धारणा भी बन जाती है, कि मैंने पा लिया, यहीं पर वह मान्यता प्रलोभन (Temptation) बन जाती है और इसके भौतिक रूप से प्रकाट्य की चाह हमें सब प्रकार से सक्रिय रखती है। **जो मिल जाएगा, वह भविष्य में होने वाला प्रकाट्य है। वर्तमान में उसके मिल जाने की मान्यता (assumption) काल्पनिक है जो मात्र एक Temptation या प्रलोभन है। Assumption is pseudo manifestation, which is temptation. प्रकाट्य की वह मान्यता भ्रामक है, लेकिन यही भ्रम प्रलोभन बन कर हमें संघर्षरत रखता है। भ्रामक प्रकाट्य की मान्यता के**

प्रलोभन से प्रेरित होकर, विभिन्न तथाकथित कर्मों द्वारा हम वास्तविक प्रकाट्य चाहते हैं। हमारे समस्त कर्मों का कारण दिशाएँ, पद्धतियाँ, विस्तार एवं सीमाएँ, गुणवत्ता एवं लक्ष्य इन्हीं पर केन्द्रित हैं।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य यह है, कि बाह्य जगत में किसी भी प्रकाट्य का हमारी किसी प्रलोभन युक्त मान्यता तथा उससे प्रेरित होकर किए गए किसी भी कृत्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। जो कुछ भी हम झमेला करते हैं, उसका बाह्य जगत में होने वाले प्रकाट्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता। हमसे और मूर्खता क्या होती है, कि भविष्य में हुई उस प्राप्ति अथवा खोने को हम अपना कर्मफल मान बैठते हैं। Karma is because of your Pseudo temptation by pseudo manifestation. Pseudo manifestation is assumption and you are tempted. इस प्रकार हमारा कर्म ही भ्रामक है। **हमारा लक्ष्य बाह्य जगत में जो प्रकाट्य है, वह प्रकाट्य उस समय की मानसिक स्थिति का होता है। The manifestation is entirely the outcome of mental phase at that time**. यदि ऐश्वर्यमय मानसिक स्थिति के बिना बाह्य जगत में कुछ प्रकाट्य हो गया, तो उस प्रकाट्य को हम कभी भोग नहीं पाएँगे।

मैं इसे उदाहरण सहित विस्तार से समझाऊँगा। मानों मैं करोड़पति बनना चाहता हूँ। मेरी मानसिकता में यदि करोड़पति बनने का भाव नहीं आया, तो करोड़ रुपया पाकर भी मैं निर्धन ही रहूँगा। **मेरा मानसिक स्तर यदि उस प्रकाट्य के अनुरूप नहीं होगा और मैंने बाह्य जगत में विभिन्न तथाकथित क्रियाओं द्वारा कुछ प्राप्त भी कर लिया, तो उस प्राप्ति का भोग मैं कर ही नहीं सकता। वस्तु हमारी होगी, लेकिन हमारे जगत में जिसका मानसिक स्तर उस प्राप्ति के अनुरूप होगा, वही इसका भोग करेगा। इसलिए कमा कोई रहा है और भोग कोई और कर रहा है।** हम जीवन के इन नग्न एवं परम सद् तथ्यों के प्रति आँखें बन्द नहीं कर सकते। यदि करेंगे, तो हम अन्धों के समान जीवन व्यतीत करेंगे, क्योंकि **अन्धे को अँधेरा भी अँधेरा नज़र आता है और प्रकाश भी अँधेरा नज़र आता है।** यदि

कुछ प्राप्ति करके भी हम तनावित और भयभीत हैं, तो हमें ज्ञान हो जाना चाहिए, कि हमारा मानसिक स्तर उसके अनुरूप नहीं है।

हमारी क्रियाओं का प्रतिफल कोई प्राप्ति नहीं है। झूठे प्रकाट्य का प्रलोभन हमें वास्तविक प्रकाट्य की ओर कैसे ले जा सकता है? Your temptation is pseudo manifestation and all your activities are guided by this pseudo manifestation. उस क्रिया से हम वास्तविक प्रकाट्य कैसे पा सकते हैं? यह सभी बातें पशु नहीं सोच सकता। अतः मानव होने के नाते हम भी नहीं सोचेंगे, तो पशुवत् जीवन-यापन ही करेंगे। **जप-तप, दान-पुण्य, यज्ञ-हवन आदि पुरुषार्थ कर्मों से हमारी मानसिकता ऐश्वर्यवान हो जाती है।** यदि मानसिकता ऐश्वर्यवान नहीं होगी, तो धन का प्रकाट्य हमारे लिए भले ही हो जाए, लेकिन वह धन आने से पहले ही लक्ष्मी के अन्य छः अंगों—सुख, सन्तोष, शान्ति, स्वास्थ्य, स्वजन व सत्संग को चाट जाएगा। साथ ही उस धन के प्रकाट्य की प्रक्रिया में भी हम तनावित, भयभीत व विक्षिप्त ही रहेंगे। प्रकाट्य को छोड़िए, उस प्रकाट्य की चाह में की गई समस्त क्रियाओं के दौरान ही हमारा सुख, संतोष, शांति, स्वास्थ्य, स्वजन आदि नष्ट हो जाएँगे। सत्संग का नाम-निशान ही नहीं रहेगा।

कोई भी कार्य व्यक्तिगत तो है नहीं। हम अपने स्वजनों के आशीर्वाद व सहायता के बिना कोई भी कार्य नहीं कर सकते। देव-दरबार में बैठकर यदि हम किसी के लिए प्रार्थना नहीं कर सकते, तो कोई हमारा स्वजन कैसे होगा? हम स्वयं अपने को प्रसन्न नहीं कर सके, तो किसी और को कैसे प्रसन्न कर लेंगे? हम स्वयं अपने से पूछें, कि क्या मैं अपने से खुश हूँ? जो व्यक्ति स्वयं दुःखी है, इसका अर्थ यह है, कि वह अपने को खुश नहीं कर सका। किसी दूसरे को वह कैसे खुश कर सकता है? This is the pseudo manifestation of happiness. कोई भी खुशी और प्रसन्नता प्राप्त करने का प्रलोभन होते ही हमें यह देखना होगा, कि क्या हम स्वयं अपने से प्रसन्न हैं? आँख मूँद कर हम जीवन नहीं जी सकते, यदि जिएँगे तो स्वयं अभिशप्त रहेंगे और दैवीय सज़ाएँ भुगतते हुए मर जाएँगे। यह हमारा भ्रम ही है कि प्राप्तियाँ

कुछ हमारे करने से होंगी ! कोई भी उपलब्धि मानसिक स्थिति का प्राकट्य होती है। **उस मानसिकता को विकसित करने के लिए हमें शिला की तरह स्थिर होना होगा। स्वयं अपने भीतर देखना होगा, अपने विरोधियों के लिए भी प्रार्थनाएँ करनी होंगी। हम अक्सर लोगों को प्रसन्न करने के असफल प्रयास करते रहते हैं, क्योंकि हम स्वयं अपने भीतर आनन्दमय स्थिति में नहीं होते।**

हमें यह मानव-देह क्यों मिली है? इतनी उत्कृष्ट देह पाकर हम कर क्या रहे हैं? किसलिए कर रहे हैं? कब तक करेंगे और जो हम प्राप्त करना चाहते हैं, यदि वह प्राप्त हो भी जाए तो क्या हो जाएगा? अपनी समस्त प्रलोभन-युक्त मान्यताओं पर आधारित क्रियाओं को किसी भी प्रकार से और सब प्रकार से रोकना ही हमारा वास्तविक कर्म है। **प्राकट्य तो जो होना है, वैसे भी होगा, नहीं होना है तो नहीं होगा।** उसका किसी भी प्रकार की क्रियाओं से कोई ताल्लुक नहीं है। इसीलिए वास्तविक प्राकट्य का हम अनुमान ही नहीं लगा सकते। इसलिए विक्षिप्त रहते हैं कि यह कैसे हो गया, मैंने तो सोचा भी नहीं था। Your activity is directed out of temptation of pseudo manifestation and if the thing is manifested, forget that it is because of your activity. यदि हम यह सोचते हैं, कि हमारी किसी क्रिया के कारण वह प्राकट्य हुआ है, तो हमारे लिए वह प्राकट्य नाम के लिए होगा, उसे भोगेगा कोई और। जिसकी वह मानसिकता होगी, वह उसका आनन्द लेगा।

मैं एक दृष्टान्त द्वारा अपनी इस बात को स्पष्ट करूँगा। एक गाँव का अल्प-बुद्धि युवक पहली बार शहर गया। उसकी माँ ने उससे कहा–बेटा ! शहर से जलेबियाँ लेते आना। वह एक हलवाई की दुकान पर गया तो देखा कि वहाँ बड़े-बड़े थालों में रसगुल्ले, बर्फी, पेड़े, लड्डू वगैरा तरह-तरह की मिठाइयाँ सजी हुई हैं। बीच में एक मोटा सा हलवाई बैठा हुआ मक्खियाँ उड़ा रहा है। दूर खड़े-खड़े उस युवक के मुँह में पानी आने लगा। वह सोचने लगा, कि यह व्यक्ति कुछ खा नहीं रहा। वह हैरानी से सोच में पड़

गया और उसने हाथ में एक तिनका लेकर उसकी आँखों के आगे हिलाया, कि देखूँ कहीं यह अन्धा तो नहीं है ! हलवाई ने उसे डपट दिया, कि क्या कर रहा है? उस युवक ने हलवाई से पूछा क्या तुम्हें दिखाई देता है ? हलवाई बोला, कि 'हाँ' ! उसने फिर हलवाई से पूछा कि भाई ! फिर इतनी सारी मिठाइयाँ तुम्हारे सामने हैं, तुम खाते क्यों नहीं? हलवाई बोला—कि मैं खुद खाने लगा, तो बरबाद हो जाऊँगा। तो उस युवक ने कहा, कि अगर मिठाई खाने से तू बरबाद होता है, तो तू नीचे आ जा, मैं बरबाद हो लेता हूँ। हलवाई के लिए मिठाइयों का प्रकाट्य काल्पनिक है, लेकिन उस युवक के लिए वास्तविक है। **वस्तुओं, सुख-सुविधाओं आदि के भोग के लिए एक मानसिकता अपेक्षित है, जिसके बिना भोग हो ही नहीं सकता और आनन्द का तो प्रश्न ही नहीं है।**

जीवन में हम तथाकथित होश सम्भालते ही प्राप्तियों के लिए कुछ न कुछ करना शुरू कर देते हैं। प्राप्तियों की प्रलोभन-युक्त भ्रामक मान्यताओं से घिरे हम इस तथ्य को उपेक्षित किए रहते हैं, कि हमारा कोई भी कृत्य व्यक्तिगत नहीं होता। **किसी प्राप्ति के लिए सोच हमारी अपनी हो सकती है, लेकिन उसके क्रियान्वयन में हमें अपने समस्त सूक्ष्म-मण्डल का सहयोग अपेक्षित होता है।** हमारा जीवन जन्म से लेकर मृत्योपरान्त अस्थि-विसर्जन तक प्रारब्ध में अंकित लेखे-जोखे के अनुसार चलता है। उसमें अंकित लेखे-जोखे के अनुसार हम सबसे कुछ न कुछ करवाया जाता है, सुचवाया जाता है। **हमें भ्रम हो जाता है कि हम कर रहे हैं और हम सोच रहे हैं।** उसी अंकन के अनुसार हमारे लिए अन्य अनेक लोगों से बहुत कुछ करवाया और सुचवाया जाता है, **उसके लिए हमें भ्रम हो जाता है, कि इस सबका कारण हमारी अपनी विशेषता है। बुद्धिजीवी लोग प्रश्न कर सकते हैं, कि इसमें क्या अन्तर पड़ता है, कि हम सोचें या हम यह सोचें, कि हमारे द्वारा सुचवाया और करवाया जा रहा है। वास्तव में यहीं तो सारा अन्तर पड़ जाता है।** इसलिए उत्कृष्टतम्, विलक्षणतम्, अति चमत्कारिक मानव-देह प्राप्त करके भी हम दुःखी, त्रसित, विक्षिप्त और

भयभीत हैं। जब हम उस ईश्वरीय सोच पर अपना दावा करके अहं से कार्य करते हैं, कि मेरी सोच थी और मैंने इतना करके, इतना प्राप्त कर लिया तो उस कृत्य के साथ बहुत सी बातें जुड़ जाती हैं, जिनका मैं सविस्तार वर्णन करूँगा।

जब हम ईश्वरीय सोच पर कब्ज़ा करके कृत्य करते हैं, तो होता यह है, कि हम तनावित होकर कार्यरत होते हैं। खीज व क्रोध से भरे रहते हैं, चिन्तित रहते हैं। उत्तेजित रहते हैं, दबाव व थकान में कार्य करते हैं। दूसरों से छिपाकर, डरे हुए कार्यरत रहते हैं, क्योंकि हमारे तमाम कृत्यों के नेपथ्य में प्रेरक शक्ति किसी वस्तु की प्राप्ति का लालच व प्रलोभन ही होता है। मान लीजिए मैं एक वर्ष में 10 लाख या 20 लाख रुपया कमाना चाहता हूँ। कोई सोच आ गई, जिसके अनुसार मैंने कार्य करना प्रारम्भ किया। जो कर्म हो रहा था, मैंने सोचा कि मैं कर रहा हूँ। तो दस लाख या बीस लाख रुपया पाने की इच्छा, चाहत या सोच हुई, उस पर मैंने कब्ज़ा कर लिया कि यह मेरी इच्छा है, मैं पूरी करके रहूँगा। वस्तु अथवा धन अभी मिला नहीं है, लेकिन अज्ञात रूप से मैंने वर्तमान में धारण कर लिया, कि मिल गया है। हम सोचने लगते हैं, कि जब इतना धन मिल जाएगा तो मज़ा ही आ जाएगा। **उस धन के उपयोग की योजनाएँ भी बनाने लगते हैं, जो अभी मिला नहीं है। यह वास्तविक प्राप्ति नहीं है, झूठी (Pseudo) प्राप्ति है। मात्र लोभ Assumption है। इसे ही (Temptation) प्रलोभन अथवा लालसा कहते हैं।** लोभ, मुझे काल्पनिक प्राप्ति का हुआ, जो भविष्य में होगी कि नहीं होगी, उसे मैंने अपने वर्तमान में अज्ञातरूप से **हुआ-हुआ** मानकर अपना जीवन्त व अमृतवान वर्तमान, भय और विष से युक्त भविष्य बनाकर बरबाद कर दिया। उस लोभ व लालच से मेरे भीतर लालसा (Temptation) उत्पन्न हुई और मैंने ज्ञात रूप से प्रत्यक्षतः कार्य करना प्रारम्भ किया।

Every direction of my action, total density and diversity of my action, total spread, force and procedure of my action and every corner of my action was directed because of the temptation of

pseudo attainment. ज़रा हम अपनी कर्मठता की ओर देखें, कि हम काहे में व्यस्त हैं, क्या कर रहे हैं? जब मैंने उस सोच, उस विचार पर कब्ज़ा कर लिया, कि यह मेरा विचार है, क्योंकि मैं बहुत अनुभवी, शिक्षित, शक्तिशाली, प्रतिभावान एवं कुशल हूँ, तो उस वस्तु की काल्पनिक प्राप्ति ने मेरे वर्तमान को भय-विष-युक्त भविष्य बन कर घेर लिया। मैंने उसकी लालसा के लोभवश तनाव, उत्तेजना, दबाव, चिन्ता, थकान, खीज, क्रोध आदि विधाओं से घिरे हुए कार्य करना शुरू कर दिया। **मेरी कार्य प्रणाली की पूरी गुणवत्ता झूठी प्राप्ति की लालसा द्वारा प्रेरित थी।** मैंने उस सोच व चाहत को, जो ईश्वरीय थी, उसे अपनी सोच व इच्छा होने का दावा किया, वहीं से कष्टों व पीड़ाओं की श्रंखला शुरू हो गई।

कार्य के मध्य में कुछ स्वार्थवश सहायता करने वाले मिले, कुछ दुर्जन बाधा डालने वाले मिले, कुछ चाटुकार भ्रम में डालने वाले मिले। जो प्राप्ति भविष्य में होनी भी है, पता नहीं, उसमें हिस्सा बँटाने वाले भी साथ लग गए। हम भी लोभवश उन्हें अपने साथ लगाए रखते हैं, कि भविष्य में देखा जाएगा, हिस्सा दूँगा या नहीं। प्रत्यक्ष रूप से उन्हें आश्वासन देते रहते हैं, कि काम बनने दो 25 प्रतिशत नहीं 50 प्रतिशत दूँगा। कई देवी-देवताओं की मनौतियाँ मनाते हैं, जिन्हें पूरा करने की चाहत हम में होती ही नहीं। इस प्रकार कुछ न कुछ करके मान लो वह प्राप्ति हो जाती है। वह प्राप्ति तो होनी ही थी, जैसाकि मैंने पहले बताया है कि उसका आपके कुछ करने या न करने से कोई सम्बन्ध था ही नहीं। जैसेकि आपको अपनी देह सहित माता-पिता, घर-परिवार आदि मिले, उसके लिए आपने कौन सी कसरत की थी अथवा क्या सोच-विचार किया था? जब होश सम्भाला तो बनी-बनाई देह, घर, परिवार आदि मिला। क्योंकि हर प्राप्ति अथवा नुकसान उस प्रारब्ध में अंकित रिकार्ड के अनुसार ही होता है। मैं इस व्यास-गद्दी से बार-बार बता चुका हूँ, कि जीवन में कुछ भी प्राप्ति या हानि किसी प्रक्रिया का परिणाम नहीं है, बल्कि वह मानस का प्राकट्य है। **'प्रक्रिया और प्रकाट्य'** शीर्षक प्रवचन में मैंने इस विषय का सविस्तार वर्णन किया है।

जब कोई चीज़ प्रकट होती है, तो वह मानस का प्रकाट्य है। हम जो यज्ञ-हवन, जप-तप, दान-पुण्य, सत्संग आदि पुरुषार्थ-कर्म करते हैं, उनसे हमारा मानस ऐश्वर्यवान, उल्लसित व आनन्दित होता है। वह आनन्द ही हमारे जीवन में कुछ न कुछ सद्-प्रकाट्य बन कर सम्मुख आ जाता है। हमें जब ऐसी कोई प्राप्ति होती है, जिसके विषय में हमारी मान्यता रहती है, कि यह मेरी सोच और कर्मों से प्राप्त हुई है, **तो उपलब्धि के बाद कर्म तो समाप्त हो जाता है, लेकिन कर्म के दौरान जुड़े चिन्ता, तनाव, उत्तेजना, खीज, चिड़चिड़ाहट, भय आदि उस प्राप्ति के साथ जुड़ जाते हैं।** वह प्राप्ति ही हमारे तनाव व सिरदर्दी का कारण बन जाती है। हम भयभीत रहते हैं, आयकर वालों को न पता चल जाए, ईर्ष्यालु रिश्तेदारों की नज़र न लग जाए। हमारी प्राप्तियाँ ही हमें खाने लगती हैं, उनका भोग तो क्या होना था। इसलिए Haves are suffering much more than havenots. कारण यह है कि जो प्राप्त होना ही था, उसके लिए हम दावा कर लेते हैं, कि वह हमारे तथाकथित प्रयत्नों से प्राप्त हुआ है। इसी कारण जिन लोगों ने ईश्वरीय प्रेरणानुसार उस कार्य में सहायता की होती है, वे अलग गले पड़ जाते हैं। हिस्सा व कमीशन माँगने लगते हैं।

हम अपनी हर सोच का ईश्वरीकरण कर दें, कि प्रभु यह सब आपकी ही सोच है, आप ही विभिन्न रूपों में कार्य कर रहे हैं। **मुझे कुछ मिल जाए तो ठीक, आपका प्रसाद होगा, लेकिन इस चक्कर में कहीं तुम मुझे अपने से विमुख न कर देना, चाहे मुझे कुछ मिले या न मिले। इस भाव के होने पर हमारा कार्य स्वतः होना शुरू हो जाएगा।** हमारे संगी, साथी, भाव व श्रद्धा से उसमें सहायक होंगे, उन्हें हमसे कुछ भी अपेक्षा नहीं होगी। इसके विपरीत हमारा कोई भी कार्य करके वे स्वयं को धन्य मानेंगे। सम्पूर्ण प्रकरण **आनन्दमिश्रित कर्म होगा जिसे उत्साह कहते हैं।** उत्साह का अंग्रेज़ी अनुवाद, Courage नहीं है। आनन्द देहातीत है, कारण-देह का है और कर्म दैहिक है। **आनन्दमिश्रित कर्म वह होगा, जब आप सम्पूर्ण सोच व प्रकरण को ईश्वरीय मानेंगे, कि हे प्रभु ! इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक**

और इच्छाफल आप हैं। यदि किसी वस्तु की प्राप्ति या खोने के बाद मन में आनन्द है, तो वह सम्पूर्ण प्रकरण ही ईश्वरीय होता है। वस्तु की प्राप्ति पहले भय व तनाव का हेतु बन गई थी और आप भोग से वंचित हो गए थे। अब वही वस्तु भोग और आनन्द दोनों का हेतु बनेगी। आप कुछ रख लेंगे, कुछ बाँट देंगे। क्योंकि जहाँ आनन्द होगा, वहाँ भोग की आवश्यकता ही नहीं होगी और **'प्रकाट्य'** कर्म से ही नहीं, बल्कि आपके आनन्दमय मानस से होगा। इस प्रकार आनन्दमिश्रित कर्म का फल आनन्द होता है। जबकि कर्म यदि सोच को अपनी मानकर तनाव तथा उत्तेजना में किया गया है, तो उस कर्म का फल अभिष्ट वस्तु की प्राप्ति या खोना होता है।

संसार रहने के लिए है, संसार हममें रहने लग जाए तो संसार हमें विक्षिप्त कर देता है। समुद्र की लहरों का आनन्द लेना है, तो समुद्र में नाव चलाइए, यदि नाव में समुद्र आ जाएगा तो नाव डूब जाएगी। हम केवल काल्पनिक दिवा-स्वप्नों में ही उलझते हुए सम्पूर्ण जीवनभर व्यस्त रहते हैं। वास्तविक प्रकाट्य को तो अनदेखा किए रहते हैं, क्योंकि हमारी समस्त क्रियाएँ निरर्थक काल्पनिक मान्यताओं के प्रलोभनों से प्रेरित होती हैं। इसलिए जो वास्तविक प्रकाट्य होगा भी वह हमारे लिए नहीं होगा। वास्तविक प्रकाट्य के लिए किसी भी क्रिया की आवश्यकता नहीं है। इसलिए जिनके पास अधिक सुख-साधन हैं, वे अधिक तनावित और भयभीत हैं, क्योंकि **प्राप्ति और भोग में कोई तालमेल नहीं है।**

एक क्षण के लिए भी यदि हम देह और देह पर आधारित जगत से लिप्त हो गए तो हम असफल ही रहेंगे। रात को सोते समय अगले दिन का कोई कार्यक्रम व योजनाएँ न हों, अगले दिन सुबह उठें तो उस दिन की कोई योजना न हो। **उस परम पिता परमात्मा ने सम्पूर्ण जगत हमारे लिए बनाया है, किसी चीज़ का ठेका मत लीजिए। बस खेल देखिए, इसके साथ तद्रूप मत होइए।** सोते समय यदि अगले दिन का कोई कार्यक्रम नहीं है, तो वही हमारा **'निर्वाण'** है और अगले दिन यदि उस दिन का कोई कार्यक्रम नहीं है, तो वही **'मोक्ष'** है। **हे प्रभु ! मुझे बल, बुद्धि, विद्या हीन,**

असमर्थ, अशक्त, तन-मन व धन हीन कर दो और अपनी बल, बुद्धि, विद्या, सामर्थ्य शक्ति तथा अपने तन-मन व धन से मेरा जीवन चलाओ। हे प्रभु ! यह आज का दिन तुमने मुझे दिया है, देह तूने दी है, इसका समस्त कार्यक्रम व योजनाएँ तेरी ही हैं। इन भावों के साथ कोई काल्पनिक प्रलोभन युक्त मान्यताएँ ही नहीं होंगी, केवल वास्तविक प्रकाट्य होगा और उनका हम आनन्दपूर्वक भोग कर पाएँगे। कर्म हमारे द्वारा फिर भी होंगे, लेकिन कर्ता-भाव समाप्त हो जाएगा। जो भी प्रकाट्य होगा, उसकी सुरक्षा व रख-रखाव के लिए भी हम चिन्तित नहीं होंगे, क्योंकि हमने स्वयं तो कुछ किया ही नहीं। ईश्वर का ही सारा खेल था, **'तू ही करनहार, तू ही करावनहार।'** अब किसी कर्म या प्रक्रिया के दौरान हमारा लक्ष्य कुछ उपलब्धि नहीं होता। उसमें जो कुछ भी प्रकाट्य होगा, वह हमारा कर्मफल नहीं होगा, बल्कि उस प्रकाट्य के बाद हमारी आनन्दमय मानसिक स्थिति ही उस कर्म का फल होगा। प्रभु-कृपा से जब हम कर्ता-भाव का त्याग कर देंगे तो कर्म के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में आनन्द ही आनन्द होगा।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(2 से 7 जनवरी, 2006)

प्राप्ति एवं भोग

(भाग 2)

भोग के **दैवीय** अधिकार के बिना हमारी प्राप्तियाँ ही हमारे लिए विष बनकर जीवन को ज़हरीला बनाए रखती हैं। Possessions are poisons, if we do not have the **Right of Utilisation**. यह **Right of utilisation** दैवीय अदालत का अज्ञात व अदृश्य दस्तावेज़ है, जिसके बिना संसार की दुर्लभतम् वस्तुएँ एवं सुख-साधन होते हुए भी हम उनका भोग नहीं कर सकते। अतः तनावित, भयभीत, विषाक्त एवं दुःखद जीवन व्यतीत करते रहते हैं। **'भोग का अधिकार' दैवीय संस्थानों द्वारा पारित व अनुमोदित ऐसा अदृश्य दस्तावेज़ है, जिसके विषय में अक्सर हम सब अनभिज्ञ ही रहते हैं।** कारण नहीं जान पाते, कि संसार के हर प्रकार के सुख-साधन व अमूल्यतम् उपलब्धियाँ होते हुए भी हम भयभीत, तनावित और विक्षिप्त क्यों रहते हैं? हमारी प्राप्तियाँ ही हमारे लिए विष बनी रहती हैं। दुर्भाग्यवश, हम केवल प्राप्तियों के लिए भागते रहते हैं, प्राप्तियाँ होती रहती हैं, लेकिन हमारा जीवन विषमय ही बना रहता है। देह व सम्बन्धों का, संसार के सुख-साधनों का, प्रतिभाओं का, शक्तियों और धन-दौलत आदि का भोग तो क्या मिलना है, वे ही हमारे जीवन की समस्याओं और दुःखों का कारण बनी रहती हैं। इस प्रकार हम अपना समस्त जीवन व्यर्थ बरबाद कर देते हैं।

भोग के अधिकार के दस्तावेज़ के साथ विभिन्न दैवीय प्रमाण-पत्रों की पूरी अदृश्य फाइल होती है। भोग का अधिकार हमें तब तक नहीं मिलता जब तक हमारे पास Realisation की Utilisation का दस्तावेज़ नहीं होगा।

Realisation की Utilisation का दस्तावेज़ हम तब तक नहीं पा सकते, जब तक हमारे पास Realisation की Realisation का प्रमाण-पत्र नहीं होगा। ये दोनों ही अदृश्य दैवीय दस्तावेज़ हैं। **दैवीय संस्थानों द्वारा पारित और अनुमोदित इन समस्त दस्तावेज़ों के विषय में जानना और फिर सद्‌गुरु-कृपा से इस दिशा में प्रयत्नरत होना बहुत आवश्यक है, क्योंकि हमें मानव-देह मिली है।** इन दस्तावेज़ों के अभाव में देह और देह पर आधारित जगत हमारे लिए विषाक्त बना रहता है और हम कारण जाने बिना जन्म दर जन्म भटकते रहते हैं।

Realisation की Realisation वस्तुतः स्वयं को पहचानकर अपने सच्चिदानंद-स्वरूप ईश्वर की अनुभूति है। यह सद्‌गुरु-कृपा के बिना असम्भव है। सद्‌गुरु-कृपा निराकार में स्वतः बहती ईश्वरीय प्रक्रिया है, जो श्रद्धा एवं पूर्ण सद् समर्पण की ओर प्रवाहित है। समर्पण भी ऐसा, जिसमें कुछ समर्पित किया है, इसका ध्यान भी न रहे। तन-मन-धन सब कुछ उसी का है, तो हम क्या समर्पित कर सकते हैं? अतः समर्पण का समर्पण अपेक्षित है। यह समर्पण **सद्-जिज्ञासा** के बिना असम्भव है। ईश्वर के बारे में और ईश्वर को जानने व **स्वयं को जानने की उत्कण्ठा 'सद्-जिज्ञासा' है।** नहीं तो हम तन-मन-धन समर्पित क्यों करेंगे, हमारे पास तन-मन-धन के सिवाय है ही क्या? और वह भी हमने व्यर्थ ही अपना माना हुआ है। यह सब कुछ दाँव पर लगाने के लिए स्वयं अपने को जानने की जिज्ञासा होनी चाहिए। तन-मन-धन है तो उसी का, तो समर्पण भी क्या करना है! यदि समर्पण याद रहा, तो वह समर्पण ही कहाँ हुआ:—

''जान दे दी, जो दी, उन्हीं की थी,
हक़ तो यह है कि हक़ अदा न हुआ।''

यह सद्-जिज्ञासा एक जुनून है, जिसे शान्त करने के बदले में तन-मन-धन के समर्पण का समर्पण भी कुछ नहीं लगता। उसके बाद भी यदि यह जिज्ञासा शान्त हो जाए, कि **'मैं'** कौन हूँ और **अपने विशुद्ध जीवात्मा**

स्वरूप की अनुभूति हो जाए, तो उसके लिए सद्‌गुरु-कृपा ही आवश्यक है। इस अनुभूति में हमारा अपना कुछ भी नहीं होता। मैं कौन हूँ, देह के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है, देह मुझे क्यों मिली है? देह का वास्तविक सदुपयोग क्या है और देह का व देह से मैं क्या करूँ? इन जिज्ञासाओं की शान्ति के लिए सद्‌गुरु के चरणों में समर्पित-भाव से पहुँचना आवश्यक है, कि प्रभु! यह देह है, लेकिन आपकी है और देह के साथ यह जगत व धन-सम्पदा आदि सब आपका है। **'मैं'** इस देह व जीवन के मिलने से पहले भी था और इसके चले जाने के बाद भी रहूँगा। मध्य में भी **'मैं'** हूँ, लेकिन मैं कहाँ हूँ, और कौन हूँ। **'मैं'** शाश्वत् हूँ, परन्तु यह देह व जगत नश्वर व क्षण-क्षण परिवर्तित है, तो मेरा इसका सम्बन्ध क्या है, यह मेरे साथ क्यों है?

इस जिज्ञासा को लेकर यदि आप सद्‌गुरु के चरणों में पहुँचे, तो आपको Realisation लगभग हो चुकी होती है। इसके बाद ही देह का वास्तविक उपयोग प्रारम्भ होता है और तभी हमें प्राप्तियों का भोग मिलता है। लेकिन अधिकतर हम सब जीवन को एक रुटीन की तरह से जीते रहते हैं। बचपन, जवानी, बुढ़ापा और तथाकथित कमाई हुई धन-दौलत की सुरक्षा व संतानादि के विषय में चिन्तित रहते हैं, फिर मृत्यु के बाद पुनर्जन्म में भी ऐसी ही कोई कहानी पुनः शुरू हो जाती है, और कोई माँ-बाप, भाई-बहिन, पति-पत्नी, बच्चे आदि बनते हैं। कुछ दुकानें, मकान आदि बन जाते हैं, कुछ पैसा यहाँ-वहाँ पड़ा रहता है। इसके साथ ही यह भी भाव रहता है, कि मेरे मरने के बाद मेरा नाम चलता रहे, कुछ ऐसा कर जाऊँ। **संसार को जीव मर कर भी छोड़ना नहीं चाहता।** ज़रा विवेक बुद्धि से सोचें, कि मरने के बाद अपने नाम से हमें क्या मिलेगा? एक तो स्वतः भाव से आपके द्वारा कुछ ऐसा हो रहा है, जिससे आपका नाम प्रसिद्ध हो रहा है। एक जानबूझ कर इस भाव से कुछ कृत्य करना, कि मेरा नाम चलता रहे, दोनों में बहुत अन्तर है। देहासक्ति **इतनी प्रबल होती है, कि जीव चाहता है, कि संसार को छोड़ देने के बाद भी इसे कोई देह रूप में याद करता रहे।**

नाम बस एक ईश्वर का ही अमर है। हमारे नाम का अर्थ ही क्या है? विभिन्न देहों के साथ नाम-रूप बदलते रहे। उसी एक ईश्वर के कारण हम सबका भी नाम है। तो मैं सोचूँ, कि किस ओर जा रहा हूँ? मेरी चाहतें इसलिए कभी समाप्त नहीं होतीं, क्योंकि चाहतों को मैंने देह के साथ तद्रूप होकर, अपनी चाहतें मान लिया। वह देह जो कभी थी नहीं और रहेगी नहीं। **वास्तव में 'मैं' स्वयं को चाहता हूँ। जब तक मेरी चाहत को 'मैं' नहीं मिल जाऊँगा, मेरी भटकन समाप्त नहीं होगी।** देह मुझे इसलिए मिली है, कि इसका अवलम्बन लेकर मैं अपनी विशुद्ध **'मैं'** को खोज लूँ। अपनी देहातीत विशुद्ध **'मैं'** की अनुभूति के लिए भी तो देह अपेक्षित है।

यह विषय महामानवों के लिए है। मानव-देह धारण करके जो स्वयं को जानना चाहते हैं, उनके लिए यह विषय है। महामानवों को देह इसलिए मिलती है, कि वे अपनी **'मैं'** को निथार लें। मैं अमुक-अमुक हूँ' यह वक्तव्य देह के हैं, **'मैं'** के नहीं हैं। यह परिचय भी देह का है। ज़रा सोचें, कि यह कैसे हो सकता है कि **'मैं'** प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ लगाता है, जबकि प्रत्येक व्यक्तिके पृथक्-पृथक् गुण, प्रतिभाएँ, चाल-ढाल, व धर्म-कर्म हैं। एक ही **'मैं'** इतना सब कुछ कैसे हो सकती है। **'मैं'** तो **'मैं'** ही है। इन सबमें आपस में कोई मेल है ही नहीं। तिलक, कण्ठी, दाढ़ी आदि **'मैं'** ने नहीं रखी, देह ने ही विभिन्न चिन्ह-चक्र धारण किए हैं। **'मैं'** के तो सारे धर्म हैं और **'मैं'** का अपना कोई धर्म, कर्म, लिंग, जाति, देश आदि नहीं है। क्योंकि **'मैं'** निराकार व अकाल है। इस प्रकार देह मुझे अपने साथ तद्रूप करके घसीट रही है और मैंने अज्ञानवश देह को ही 'मैं' माना हुआ है। **'मैं'** वास्तव में दृष्टा है। वह विशुद्ध जीवात्मा है, जो सच्चिदानंद ईश्वर का एकमात्र मानस-पुत्र है। वह ईश्वर की भाँति चेतन, अमल और सहज सुखराशि है। वह ईश्वर की भाँति कालातीत, निराकार, देशातीत, लिंगातीत, अजर-अमर, कर्मातीत, धर्मातीत, कर्तव्यातीत एवं त्रिगुणातीत है।

यह दृष्टा जीवात्मा इस देह के साथ तद्‌रूप होकर युगों-युगान्तरों से भटकता हुआ विशेष प्रभु-कृपा से जब अपने बारे में जानना चाहता है, तो सद्‌गुरु के चरणों में पहुँचकर अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करता है, कि प्रभु ! यह देह क्या है और किसलिए है? इस देह सहित मेरी जितनी भी प्राप्तियाँ थीं, वे मेरे लिए विष बन गईं। मैंने देह को वस्त्राभूषणों से इतना सजाया, बादाम रोगन की मालिश की, एयरकन्डीशन में रखा, लेकिन यह लगातार क्षय हो रही है और मैं भयभीत हूँ। देह तो निरन्तर जीर्ण होकर क्षय होती ही है। इसकी क्षय होने की प्रक्रिया को धीमा किया जा सकता है, लेकिन रोका नहीं जा सकता। **वह स्रष्टा देह की अवस्था आदि भी नहीं देखता। कभी-कभी पूर्ण स्वस्थ देह को भी ले जाता है।** जो इसका मालिक है, जिसने यह दी है वह जब चाहे इसे ले जा सकता है। तो जीव सद्‌गुरु के चरणों में **'सद्'** की जिज्ञासा लेकर पहुँचता है, कि 'मैं' कौन हूँ ? सब देह को लेकर अवचेतना में **'मैं' 'मैं'** करते हैं। जब जीवात्मा देह की अवचेतना में होता है, तो देह स्वयं को **'मैं'** कहती है, कि मैं अमुक-अमुक हूँ। सद्‌गुरु कहता है, कि "बेटा ! यह सोच कि यह देह तुझे छोड़ती कब है?" वह लूपहोल बताता है, देह जब भी अवचेतना में होती है, तो अपने साथ 'मैं' लगा लेती है। आपस में देह लड़ती है, प्रेम करती है, लेकिन कहती है, कि मैं उससे प्रेम करता हूँ अथवा मैं उससे घृणा करता हूँ। **'मैं' एक ही है, देह ही देह से घृणा करती है, देह ही देह से प्यार करती है।** देह, देह से लेती, देती है, लेकिन **'मैं'** साथ लगाती है, कि मैंने उसे यह दिया, मैंने उससे यह लेना है। देह अपनी सब अवस्थाओं के साथ **'मैं'** लगाती है कि मैं बच्चा था, मैं जवान हुआ, मेरी शादी हुई, मैं पिता बना, मैं दो बच्चों का पिता बना, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं बूढ़ा हो गया हूँ, मैं बीमार हूँ, मैं स्वस्थ हूँ, मैं हिन्दू हूँ, मैं मुसलमान हूँ, मैंने मरना है क्योंकि मैं पैदा हुआ था। सद्‌गुरु, सद्‌शिष्य की सद् जिज्ञासा से प्रेरित हो उससे कहता है, कि "बेटा ! कोई ऐसी स्थिति याद कर, जब यह देह होती है, लेकिन **'मैं'** साथ नहीं लगाती, यानि तुझे छोड़ देती है। शिष्य

कहता है ''हाँ महाराज जब यह सोती है, तब यह नहीं कहती, कि मैं सोई हुई हूँ, जब मूर्च्छित होती है, तो नहीं कह सकती कि मैं मूर्च्छित हो गई हूँ और जब मरती है, तो भी साथ **'मैं'** नहीं लगाती, कि मैं मरी हुई हूँ। यह देह होती है, लेकिन इन स्थितियों में **'मैं'** नहीं लगा सकती।''

सद्गुरु ध्यान करवाता है, सद्शिष्य को इन स्थितियों पर एकाग्र करने के लिए कहता है। सद्गुरु कहता है, कि तू देह की कोई ऐसी अवस्था पर एकाग्र कर, जो **देह की अवस्था हो, लेकिन अवस्था देह की न हो।** तू बहुत बुद्धिमान है, तू कोई ऐसी देह की अवस्था खोज। सद्शिष्य कहता है, कि वह अवस्था मात्र देह की भस्मी है, जो देह का निश्चित, परिलक्षित व दर्शित भविष्य है। यह अवस्था कुल देह का भविष्य है, जो दर्शित है। **तो सद्गुरु कहता है कि तुझमें भविष्य में विचरण करने की अद्भुत् प्रतिभा क्षमता है, तू देह के इस दर्शित भविष्य को दृश्य बना ले।** सद्गुरु की महाकृपा और **'सद्'** की जिज्ञासा होने पर ही यह सम्भव है। देह व जीवन में जितने भविष्य हैं, उन्हें दृश्य बनाना सरल है, क्योंकि 'मैं' देह के साथ सम्पृक्त है। लेकिन देह की भस्मावस्था प्रकट होने से पहले पंच-महाभूतों की देह पाँच महाभूतों में ही विलीन हो जाती है।

सद्गुरु-कृपा से देह के निश्चित, परिलक्षित भविष्य भस्मी को जीवन-काल में सुनिश्चित करके लक्ष्य बनाने पर वह देह का दर्शित भविष्य ध्यान में दृश्य बन जाता है। एक बार उस भस्मी की मात्र झलक, जो देह की अवस्था होते हुए भी, अवस्था देह की नहीं होती। मिलने पर **'मैं'** (जीवात्मा) देह होते हुए भी देहातीत हो जाता है। **'भस्मी'** दर्शित **भविष्य** था। परन्तु ध्यान में मेरे सम्मुख उसके दृश्य बनने पर उन क्षणों में **'मैं'** कालातीत हो जाता हूँ। **'भस्मी'** किसी देह को नहीं पहचानती। देह से भस्मी की अवधारणा की और जब भस्मी दृश्य बनी तो न केवल देह बल्कि उसके साथ ही देह पर आधारित जगत भी समाप्त हो जाता है। **सद्गुरु कहता है, कि बेटा यह तेरा जीवात्मा स्वरूप है जो दृष्टा है। उस अवस्था का कारण परमात्मा है और उस अवस्था के कारण देह व देह**

पर आधारित जगत की सृष्टि है। उस समय जीवात्मा, परमात्मा के सम्मुख होता है, कि 'तू' है तो 'मैं' हूँ। मानव-देह धारण करके यदि कोई महा उपलब्धि व प्राप्ति है तो वह यही है। इस प्राप्ति के समकक्ष कोई प्राप्ति नहीं है।

''ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुखराशि।''

सद्गुरु-कृपा से जब जीवात्मा उस अवस्था में आता है, तो उसे अपने विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप की Realisation हो जाती है और इस अवस्था **का कारण** परमात्मा है यह Realisation की Realisation (अनुभूति की अनुभूति) होती है। इसके बाद जीवात्मा को अनुभूति होती है कि मेरी **उस अवस्था के कारण** स्रष्टा ने मेरे लिए इस समस्त सृष्टि की रचना की है। यह Utilisation of Realisation है। वहीं पर दैवीय संस्थानों द्वारा भोग का अधिकार (Right of Utilisation) पारित हो जाता है। फिर वहाँ प्राप्तियों की आवश्यकता ही नहीं रहती, किसी उपलब्धि का आपके पास होना या न होना महत्त्वपूर्ण ही नहीं रहता। क्योंकि एक बार Right of Utilisation मिलने पर समस्त प्राप्तियाँ आपके चरणों में आने लगती हैं। आप उन्हें भोगना चाहें तो आनन्द में भोगते हैं, नहीं तो बाँट देते हैं। Utilisation की Realisation यह है, कि सब कुछ उस परमात्मा ने मेरे लिए ही बनाया है। यह **'मैं'** एक देह के नाम-रूप की **'मैं'** नहीं है। अतः मानव-देह धारण करके 'मैं' यदि मात्र प्राप्तियों के लिए ही भाग रहा हूँ, तो निश्चित रूप से मैं स्वयं को मूर्ख बना रहा हूँ। क्योंकि भोग के अधिकार के इस दैवीय प्रमाण-पत्र के बिना हम अपनी ही प्राप्तियों को भोग नहीं सकते।

हमारा कर्तव्य है कि मानव-देह इस विशेष कार्य के लिए हमें मिली है, वह करें। यह **कार्य** हमारे लिए कोई दूसरा नहीं कर सकता। अपनी इस विशुद्ध **'मैं'** की अनुभूति के लिए देह चाहिए, कि देह से उसकी भस्मी-अवस्था की सिद्धि हो जाए, जो देह की निश्चित, परिलक्षित, दर्शित अवस्था है। **लेकिन 'यह अवस्था' न देह की है और न ही देह पर आधारित जगत की है।** क्योंकि वहाँ पंच-महाभूतों की सारी सृष्टि का

लय हो जाता है। यह भस्मावस्था ही 'मैं' का स्वरूप है। उसके बाद जब मैं देह में आता हूँ, तो जीव नहीं रहता और वह दिव्य देह होती है। **वह 'मैं' ब्रह्ममय होती है। देह-दृष्टि से वह स्वयं में बल-बुद्धि-विद्याहीन, असमर्थ, अशक्त व तन-मन-धनहीन होता है। उस दिव्य देह में यह सब कुछ ईश्वर का ही होता है।** वह दिव्य देह हर्ष, उल्लास, अभय, आरोग्यता, सर्व-सम्पन्नता, मस्ती, उत्साह तथा प्रकट-अप्रकट रूप से ईश्वर का सिमरन करती है।

वह **'मैं'** प्राणी मात्र में स्वयं को देखता है और समस्त मायिक सृष्टि का आनन्द लेता है। उसका कर्ताभाव पूर्णतः समाप्त हो जाता है। उसे तहे-दिल से अनुभूति हो जाती है, कि सब कुछ स्वतः हो रहा है और कुछ उससे भी करवाया जा रहा है। इसका कारण **'तू'** यानि परमात्मा है। उस अवस्था के कारण सारी सृष्टि है, जिसमें मेरी एक देह और देह पर आधारित जगत है। जिसका सारा खेल मैं देह बनकर देखता हूँ। वहाँ **'मैं'** केवल एक देह नहीं होता। **'मैं'** एक देह रूप में भी होता हूँ और देह पर आधारित जगत भी **'मैं'** ही होता हूँ। यदि मैं अपनी एक नाम-रूप की देह को **'मैं'** मानकर उससे जगत को अलग मान लूँगा, तो वहाँ फँस जाऊँगा। मेरी समस्त प्राप्तियाँ मेरे लिए विष बन जाएँगी। पहली बात तो देह पर अनधिकृत कब्ज़ा होने के कारण देह ही विभिन्न रोगों से ग्रस्त हो कष्टदायक बन जाएगी। आप उसे भोग नहीं सकते और देह पर आधारित समस्त जगत भी तनाव, विक्षेप का कारण बना रहेगा।

देह स्वयं में भ्रम है। जो थी नहीं और रहेगी नहीं, वह है भी नहीं। देह के साथ तद्‌रूपता या अध्यास दूसरा भ्रम है। 'मैं' जीवात्मा है, जो ईश्वर की भाँति निराकार है। इस विशुद्ध **'मैं'** अनुभूति के बाद ही दैवीय संस्थानों द्वारा भोग का अधिकार पारित होता है। अतः भोग के लिए अधिकार चाहिए। जब भोग का अधिकार मिल जाएगा तो आपको किसी भी भोग के लिए प्राप्तियों के पीछे भागने की आवश्यकता नहीं होगी, बल्कि प्राप्तियाँ स्वयं आपके चरणों में आएँगी। जो मैंने किया और उसके कारण मुझे कोई वस्तु

प्राप्त हुई अथवा मेरे लिए किसीने कुछ उपलब्ध कराया और मैंने यह मान लिया, कि मेरी वजह से अमुक वस्तु प्राप्त हुई है, तो मैं दोनों के भोग के अधिकार से वंचित कर दिया जाता हूँ।

सोचना, करना और होना किसी भी कृत्य के तीन आयाम हैं। देहाध्यासवश, सोच व्यक्तिगत हो सकती है, लेकिन कोई भी कृत्य व्यक्तिगत है ही नहीं। जो सोच मुझे परेशान करे, वह मेरी अपनी है। **ईश्वरीय सोच हमेशा आनन्दमय ही होती है।** कीर्तन, जप-तप, स्वाध्याय, यज्ञ-हवन आदि पुरुषार्थ कर्मों में इष्ट-कृपा से लगे रहेंगे तो आपकी हर सोच ईश्वरीय हो जाएगी। उसका कार्यान्वित होना या न होना और फलीभूत होना या न होना सब कुछ आनन्दमय होगा। तब समस्त जीवन ही अत्यधिक आनन्दमय हो जाएगा।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(3 से 10 मार्च 2006)

अकेलापन एवं एकान्त

अकेलापन और एकान्त का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। **'अकेला'** को अंग्रेज़ी में **'Alone'** कहते हैं, लेकिन **'एकान्त'** का कोई अंग्रेज़ी अनुवाद नहीं है। अकेला अर्थात् जब मैं केवल अपनी देह के साथ होता हूँ और अन्य कोई देह के रूप में साथ नहीं होता। लेकिन जब मैं देह के रूप में नहीं होता, वह मेरी एकान्त स्थिति होती है। **जब हम अपनी देह के साथ बैठे हैं, यद्यपि वहाँ कोई दूसरा देह रूप में नहीं है, तो भी ऐसा हो नहीं सकता, कि वहाँ कोई दूसरा न हो।** एक व्यक्ति चुपचाप अकेला बैठा दिखाई दे रहा है, लेकिन वास्तव में वह चुपचाप अकेला नहीं बैठा है, वह किसी के साथ बैठा है। वह ज़रा भी डिस्टर्ब नहीं होना चाहता, इसलिए चाहता है, कि कोई और वहाँ न आए।

कोई अकेला बैठ ही नहीं सकता। जब भी कोई अकेला बैठेगा, तो अवश्य ही उसके साथ बहुत भीड़ होती है। कोई लोगों के साथ बैठेगा तो वह संख्या सीमित होगी, यदि अकेला बैठेगा तो हर क्षण दृश्य बदलता रहेगा। प्रश्न उठता है, कि अकेलेपन में हम यदि अकेले नहीं होते और बहुतों के साथ होते हैं, तो उस अकेलेपन से ऊबकर कोई साथ क्यों चाहते हैं? इसका उत्तर यह है, कि **हम अकेले में असंख्य लोगों की भीड़ से ऊब जाते हैं और बात करने के लिए अपनी पसन्द के एक दो व्यक्ति चाहते हैं।** क्योंकि हर व्यक्ति की अकेलेपन में असंख्य लोगों से इतनी बातें होती हैं, कि वह तंग आ जाता है और वह एक-दो व्यक्ति चाहता है, जिनसे मनचाही बातें करके वह विश्राम पा सके। कभी अकेले बिना किसी ख़याल या विचार के बैठ कर दिखाओ।

यदि हम स्वयं को अपनी देह के साथ पहचान कर बैठे हैं, तो साथ में देह पर आधारित समस्त महाब्रह्माण्ड होगा ही। इसलिए हम अकेले हों, यह असम्भव है। भूत की अनेक स्मृतियाँ, भविष्य की अनेकानेक चाहतें और योजनाएँ-परियोजनाएँ, विभिन्न सम्बन्धों के भाव जैसे–प्रेम-घृणा, वैर-वैमनस्य, दोस्ती-शत्रुता आदि अथवा धर्म-कर्म, कर्तव्य-जाति, देश-परदेश इतना कुछ होगा, कि हम तंग आकर घबरा उठेंगे। अकेले में बोर इसलिए नहीं होते, कि साथ कोई नहीं है, बल्कि उस अकेलेपन में जो ख़यालों की भीड़ हमें घेर लेती है, हम उससे उकता जाते हैं। हम सब कुछ ऐसा चाहेंगे, जिससे हमारी एकाग्रता उसमें लग जाए। हमने ये मिथ्या भ्रम पाले हुए हैं, कि अमुक बेचारा अकेला है। कोई अकेला हो कर दिखाए! वास्तविकता यह है, कि हम भीड़ में अकेले हैं, क्योंकि कोई हमें पूछता नहीं। आखिर कोई कब तक पूछता रहेगा! हम अकेले में भीड़ से घिरे रहते हैं। हम अध्यात्म की बातें करते हैं, हमें तो भौतिक जगत का भी ज्ञान नहीं है। **अतः सत्य को जानने से पहले हमें असद् की अनुभूति परमावश्यक है।**

बहुत भीड़ है घर में, सब साथ में रहते हैं, संयुक्त परिवार है। बड़ी रौनक रहती है, लेकिन इतने बड़े परिवार में सब स्वयं में अकेले हैं। क्योंकि सब एक दूसरे से स्वार्थवश जुड़े हैं। कोई किस से कितना लाभ उठा सकता है, यही सबका लक्ष्य है। साथ ही जब कोई अकेला बैठता है, तो उसे भीड़ घेर लेती है, **विचारों की भीड़**! किसी से कुछ लेना है, किसी को कुछ देना है, कहीं कुछ मतलब है, कहीं तथाकथित सेवा है और न जाने क्या-क्या। इस प्रकार हम आत्मविश्लेषण करें तो पाते हैं, कि हम भीड़ में अकेले हो जाते हैं और जब अकेले होते हैं, तो हमें असंख्य लोगों की भीड़ घेर लेती है। कभी हम छात्र जीवन में पहुँच जाते हैं, कभी देश-विदेश की पुरानी स्मृतियों में पहुँच जाते हैं। कभी किसी का साथ न मिले तो फिर किसी पुस्तक या टीवी का सहारा लेना पड़ता है और जब बहुत लोगों के साथ होते हैं, तो हम अकेला रहना चाहते हैं। अतः कोई ऐसी भूमिका अपेक्षित है, जहाँ **'मैं'** देह के रूप में नहीं हूँ, लेकिन **'मैं'** हूँ। क्योंकि देह होगी, तो भीड़ होगी और यदि

अनेक देहों की भीड़ होगी, तो भी **'देह' तो होगी ही। देह का आधार है—भीड़ और भीड़ का आधार है—देह। यह देह एक नाम-रूप की देह है, जो जीवात्मा को उस देह और उस पर आधारित समस्त ब्रह्माण्ड के मध्य चल रही शिव-शक्ति क्रीड़ा का आनन्द लेने के लिए दी गई है।** मुझे कोई ऐसा स्थान, ऐसा निवास व ऐसी भूमिका चाहिए, जहाँ **'मैं'** और मेरे इष्ट के अतिरिक्त और कोई न हो। चाहे क्षणभर के लिए ही सही, मैं और तू हों या मैं ही न हूँ।

जहाँ **'मैं'** ही न रहूँ, वह भी एक भूमिका है, जहाँ इस नाम-रूप की देह का अन्त हो जाए। इसे कहा है—**'एकान्त'।** नाम-रूप की देह से अध्यास ने ही अपने चारों ओर भीड़ एकत्र की, कि मैं अमुक-अमुक हूँ और यही देह रूप में **'मैं'** असंख्य लोगों की भीड़ में अकेला होता है। **अकेले में भीड़ एकत्र करता है और भीड़ में अकेला होता है।** जैसेकि कोई कहे, कि मैं घर से दूर रह कर अकेले रहते-रहते तंग आ गया था, तो घर आकर ही शांति मिली। पूछो, कि अब क्या हाल है? कि क्या बताएँ! घर में एक बच्चा बीमार था, वह रोता रहा, बड़े बेटे की परीक्षाएँ थीं, उसे पढ़ाना था, पत्नी के मायके से मेहमान आ गए, बस मैं तो तंग आ गया। फिर किसी के परामर्श पर हिल स्टेशन चले गए, वहाँ से वापिस भी तो आते हो, क्योंकि भीड़ फिर याद आ जाती है। यही हमारे जीवन की छटपटाहट है।

मुझे नहीं मालूम कि मैं तड़प क्यों रहा हूँ? मैं डिस्टर्ब क्यों हूँ? मैं घबराया हुआ और भटका हुआ क्यों हूँ? न मैं कारण जानता हूँ और न जानना चाहता हूँ। मैं अकेला होता हूँ उससे घबरा कर कोई कम्पनी या साथ चाहता हूँ, क्योंकि अकेले में इतनी भीड़ से घिर जाता हूँ, कि उससे बाहर आना चाहता हूँ। अरे! कभी आप अपने इष्ट, अपने यार के साथ बैठ जाओ, आपको दीन-दुनिया भूल जाएगी। आपका मन होगा, कि कोई आकर आपको डिस्टर्ब न करे, आपकी अपनी देह भी नहीं। **संसारी लोगों की अकेलेपन की कितनी गलत व्याख्या है। क्या हम स्वयं को मूर्ख नहीं बना रहे? हम स्वयं से स्वयं को ढक रहे हैं, अपने को ही झाँसा दे रहे हैं और**

स्वयं ही अपने बनाए मायाजाल में भ्रमित और गुमराह हो रहे हैं। हम नहीं जानते, कि हम चाहते क्या हैं? आसपास की भीड़ में से कोई चला जाए तो उसके लिए रोते हैं, उसे मिस करते हैं, इसीलिए अकेले में उसकी स्मृतियों के चक्रव्यूह से छटपटा कर उसे भूलने का प्रयत्न करते हैं। दूसरों के साथ रहना चाहते हैं।

इस समस्या का एकमात्र निदान है—**'एकान्त'।** क्षणभर के लिए कोई ऐसी अवस्था हो जहाँ पर मेरी देह भी मेरे पास न हो। **'मैं'** रहूँ लेकिन देह न हो। नशा करके या सो कर नहीं, अपनी चेतनता में अपने नाम-रूप की प्रतीति न रहे। इसीलिए इसे **एकान्त** कहा गया है—**एक यह नाम-रूप की देह का पिण्ड ही है, जिसके साथ तद्‌रूपता के कारण मुझे कभी एकान्त की स्थिति की अनुभूति नहीं होती। क्योंकि एकान्त की उस अवस्था में आनन्द के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।** मेरे एकान्त का वह आनन्द खो गया है, मैं देहाध्यास में जन्मों-जन्मान्तरों से बद्ध हूँ, इसीलिए जब भी मैं अकेला बैठता हूँ, तब मुझे असंख्य विचारों और स्मृतियों की भीड़ घेरती है और जब मैं भीड़ में होता हूँ तो अकेलापन महसूस करता हूँ। आनन्द देहातीत है और जब देह होगी तो देह पर आधारित जगत भी होगा ही। हम अपनी पसन्द के एक दो लोगों का साथ इसलिए चाहते हैं, क्योंकि देह पर आधारित जगत हमारे तनाव का कारण बना रहता है। इसलिए एक दो लोगों की आत्मीयता से कुछ पल के लिए राहत पाते हैं। **एकान्त की एक स्थिति वह है, कि आप अपने इष्ट के प्रेम में इतने भाव-विभोर हो जाएँ, कि आपको अपनी देह की सुध-बुध भूल जाए। एकान्त की एक स्थिति वह है, कि आप अपनी देह के निश्चित, परिलक्षित, दर्शित भविष्य 'भस्मी' के साथ तद्‌रूप हो जाएँ।** जीते जी उस **निश्चित** भविष्य को **सुनिश्चित** कर लें, उस **परिलक्षित** को **जीवन-लक्ष्य** बनाकर उस **दर्शित** को ध्यान में **दृश्य** बना लें। हमारा जगत हमारे लिए तभी बनता है, जब हम स्वयं को नाम-रूप की देह के साथ पहचानते हैं।

जगत तो स्वतः प्रकट है, बना-बनाया है, लेकिन हमारे नाम-रूप की

देह के साथ तद्रूप होते ही वह हमारे गले पड़ जाता है। जब मैं भ्रूणावस्था में गर्भ में आया, तो सारा जगत बना-बनाया था, हालाँकि कुछ दिनों तक तो मेरे माता-पिता को भी ज्ञान नहीं था, कि मैं गर्भ में आ चुका हूँ। माँ के गर्भ में नौ महीने मेरे लिए देह बनी और मेरा शिशु रूप में जन्म हुआ। तब शैशवावस्था, बाल्यावस्था में मुझे न अपना ज्ञान था न अपनी देह पर आधारित जगत का ज्ञान था। माता-पिता तथा समस्त संसार को पहचानने से पूर्व मैंने स्वयं को अपनी उस नाम-रूप की देह के साथ पहचाना। मुझे नहीं याद, कि मैंने माता-पिता को अपना माता-पिता कब माना। मेरे तथाकथित होश सम्भालने से पहले भी मेरी देह थी और देह पर आधारित जगत भी था। लेकिन मुझे अपने होने का ज्ञान नहीं था, इसीलिए मुझे जगत का भी कोई ज्ञान नहीं था। **इस एक नाम-रूप की देह के अध्यास में ही जन्मों-जन्मान्तरों की भटकन है।** सब भटक रहे हैं, अकेले होंगे, तो भीड़ तंग करेगी और भीड़ में होंगे तो अकेलापन भटकाएगा। इसीलिए न हमें देह का सुख है और न संसार का सुख है। हम नहीं जानते, कि हम क्या चाहते हैं और अन्धे होकर घूम रहे हैं। कोई दो क्षण राहत देने वाला मिल जाए, उसे अपना लेते हैं। फिर वही पराया हो जाता है। यदि वह अपना है, तो पराया कैसे हो जाता है? क्योंकि हमारी अपने साथ ही नहीं बनती। तो हमें ऐसी स्थिति में आना होगा, जहाँ हम एकान्त में हों। **जहाँ जाग्रतावस्था में कुछ देर के लिए देह भी साथ न हो, वही समाधि स्थिति है।** वही एकाग्रता है, 21 प्रकार की समाधियाँ हैं, जिनका वर्णन करना सम्भव नहीं है।

मेरी देह की **'भस्मी'** दर्शित भविष्य है, लेकिन जब वह बनेगी, तो उसे देखने के लिए मैं नहीं रहूँगा। जब अपनी चेतना में वह दर्शित मेरे लिए दृश्य बन जाए, वही एकान्त की स्थिति है। जब मैं अपनी चेतनता में स्वयं को भस्मी रूप में देखूँगा, तो निश्चित रूप से मैं देह नहीं हूँगा, उस भस्मावस्था के दृश्य का दृष्टा मेरा विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप होगाः—

''सच्चिदानंदोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

जब भस्मी होगी तो देह व देह पर आधारित जगत दोनों लय हो

जाएँगे, इसे **'लययोग'** कहा है। वह झलक एक निमिष की होती है और वही मेरा एकान्त होता है। जहाँ एक (नाम-रूप की देह की अवचेतना) का अन्त मेरी चेतनता में हो गया, यही मेरे सच्चिदानंद-स्वरूप की Realisation है। फिर जब मैं देह में आता हूँ तब भी मुझे उस अनुभूति की अनुभूति रहती है, जो कि अनिर्वचनीय है। वह अनुभूति तब हुई जब आप भस्मी से तद्रूप थे, तभी उनका वर्णन कर सकते थे, लेकिन तब देह ही नहीं थी, इसलिए वह अनुभूति मन-वाणी से परे है। **उसे Realisation of Realisation) या अनुभूति की अनुभूति कहते हैं।** वह सोच-विचार तथा अभिव्यक्ति सबसे परे है। जो केवल अनुभूतिगम्य है वह शब्दों में नहीं आ सकता।

जिस देह में इस अनुभूति की अनुभूति हो गई, वह जन्म-मृत्यु से बँधी काल्पनिक देह नहीं होती, वह दिव्य-देह होती है। जो स्वयं में बल, बुद्धि, विद्याहीन, असमर्थ, अशक्त और तन-मन-धनहीन होती है। इसका लक्षण यह है, कि वहाँ उस देह में उस अनुभूति के सदुपयोग की अनुभूतियाँ होती हैं। Realisation के Realisation का लक्षण यह है, कि उसमें उस Realisation की Utilisation होती है। वह दिव्य-देह उसी के अनुसार व्यवहार करती है। हम स्वयं ही उसके सबसे अच्छे निर्णायक होते हैं। कोई अन्य इसे नहीं समझ पाता। दूसरों को देखने में वैसे ही लगते हैं, लेकिन हम उस दिव्य-देह में Realised soul होते हैं। सारा ब्रह्माण्ड हममें विचरता है और हम सारे ब्रह्माण्ड में विचरते हैं।

इस Utilisation की Realisation भी यद्यपि अनिर्वचनीय है, लेकिन फिर भी मैं कुछ शब्दों में उसका वर्णन करने का प्रयास करूँगा। जब हम देहाध्यास के कारण जीव थे, तो जो हमारे द्वारा हो रहा था, हम भ्रम में थे कि मैं कर रहा हूँ। लेकिन अब हमें तहेदिल से अनुभूति हो जाती है, कि सब कुछ हो रहा है। वह अदृश्य शक्ति ही समय-समय पर प्रेरित करके मुझसे भी कुछ न कुछ करवा लेती है, मैं कुछ भी नहीं कर रहा। हमारी प्रत्येक क्रिया के तीन स्तर होते हैं:– **सोचना, करना और होना।** सोच तो अनेक होती हैं, उनमें से कोई-कोई सोच ही कार्यान्वित होती है, जिससे कुछ प्रकटीकरण

होता है। **किसी सोच का सक्रिय रूप लेना स्वयं में घटना है, हर सोच तो क्रिया रूप में प्रकट नहीं होती। हम तो हर पल कुछ न कुछ सोचते ही रहते हैं, क्योंकि हमने अपनी बुद्धि पर अनधिकृत कब्ज़ा करके सोच को अभिशप्त कर रखा है।** विवेक बुद्धि से विचार करें, कि हमारा दिल, गुर्दे आदि शरीर की विभिन्न कार्य-प्रणालियाँ जब हम नहीं चला रहे, तो हमने बुद्धि का उत्तरदायित्व क्यों लिया हुआ है? जब ईश्वर सुचवाएगा तो उसे सक्रिय रूप भी वही देगा, तो उससे कुछ होगा अथवा कुछ नहीं होगा। उस स्थिति में ईश्वरीय सोच के आते ही मुझे आनन्द की अनुभूति होने लगेगी, उसकी सक्रियता में भी आनन्द आएगा और उसके फलस्वरूप कुछ होगा तो भी मुझे आनन्द आएगा, कुछ नहीं होगा तो भी मेरा आनन्द विखण्डित नहीं होगा। सम्पूर्ण प्रकरण ईश्वरीय होगा। मैं सोच और उसके कार्यान्वयन दोनों का आनन्द ले लेता हूँ तथा यही मेरे द्वारा हुए कर्म का फल होता है।

एकान्त की अनुभूति यह होती है, कि मैं देह नहीं, विशुद्ध जीवात्मा हूँ। इस अनुभूति की अनुभूति यह है कि मैं ईश्वर की वजह से हूँ। उसके बाद देह में आने पर इस अनुभूति के सदुपयोग की पहली अनुभूति यही होगी, कि देह की दृष्टि से मेरे द्वारा जो भी किया जा रहा है, वह मुझसे करवाया जा रहा है। मैं कुछ नहीं कर रहा। उपयोग की दूसरी अनुभूति यह होगी, कि जो कुछ भी मेरे लिए हो रहा है और मुझे प्रसाद रूप में मिल रहा है वह मेरे कारण या मेरी किसी ख़ासियत की वजह से नहीं है यह मात्र मेरे उस इष्ट व सद्‌गुरु की कृपा का ही फल है। मानव-जीवन का अर्थ क्या है? आखिर हम यहाँ क्या पा लेंगे? बड़े-बड़े राजा, महाराजा, भूमिपति चले गए, क्या गया उनके साथ! अन्ततः डेढ़ किलो भस्मी ! जो हमारा निश्चित, परिलक्षित व दर्शित भविष्य है, जिसे हम देख नहीं पाते। आसक्तियों को लिए पुनः पुनः जन्मते-मरते रहते हैं। उस भस्मी का यदि स्वाद लेना है तो जीते जी लीजिए। वही हमारी एकान्त-स्थिति है, जिसका आनन्द हमने कभी लिया ही नहीं। वास्तव में मानव-देह धारण करके हमारा लक्ष्य यही है। एक बार एकान्त-स्थिति की अनुभूति हो जाए, तभी

मानव-जीवन की सार्थकता है। इसके लिए समर्पण का समर्पण आवश्यक है।

जगत, माया व भ्रम है, अतः उसका आनन्द लेने के लिए भी भ्रमित होकर ही देखना आवश्यक है। इसके लिए यह ज्ञान होना आवश्यक है, कि यह सब भ्रम है। उसके लिए रोज़ पल दो पल के लिए एकान्त की स्थिति में प्रविष्टि होना ज़रूरी है। फिर भ्रमित होकर संसार महानाट्यशाला का खेल देखिए। दुर्भाग्यवश, हम इतने भ्रमित हो गए हैं, कि भ्रम को ही वास्तविकता समझने लगे। भूल ही गए, कि हम नाम-रूप की देह के साथ तद्रूप होकर ही भ्रमित हैं। **हमारा मूल सच्चिदानंद-स्वरूप इतना आच्छादित हो गया, कि हम मल, विक्षेप व आवरण से आवृत्त होकर सुखी-दुःखी होते हुए, इन नाटकीय स्थितियों का कभी आनन्द नहीं ले पाए।** सद्, चेतन व आनन्द हमारा स्वरूप है। उसकी सम्मुखता के लिए हमें असद् और जड़ अपने दैहिक जीव-भाव के भ्रम का, सद्गुरु-कृपा से मूलोच्छेदन करना होगा। हमें उस एकान्त की मनःस्थिति में प्रविष्टि पानी होगी, जहाँ या तो हम अपने इष्ट के प्रेम में सराबोर होकर अपनी देह की सुध-बुध भूल जाएँ अथवा इसी नाम-रूप की देह के निश्चित परिलक्षित व दर्शित भविष्य भस्मी को सुनिश्चित कर, उस दर्शित को दृश्य बना लें। यह समस्त प्रकरण कृपा-साध्य है।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(4 मार्च, 2006)

व्यष्टि-समष्टि

(**भाग** 1)

आज मैं आप समस्त अति जिज्ञासुओं की उपस्थिति में एक बहुत विचित्र एवं सार-गर्भित विषय प्रस्तुत करने जा रहा हूँ, विषय है—**'व्यष्टि-समष्टि'।** यह सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड पूर्णतः ईश्वर द्वारा ही निर्मित, पालित एवं संहारित है। इसमें परम विशिष्ट, अद्वितीय, विलक्षणतम् संरचना मानव-देह है। **ईश्वर जब साकार रूप लेता है, तो जिन छः भगों अथवा विभूतियों से युक्त होता है; वे समस्त विभूतियाँ उसने मानव-देह में भी ठसाठस भरी हैं।** लेकिन महादुर्भाग्य है, कि सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड में सबसे अधिक भयभीत, त्रसित, विक्षिप्त, तनावित एवं अन्य सभी रोगों, दोषों व विकारों से युक्त भी मानव ही है। मैं अपने विभिन्न प्रवचनों में अनेक आयामों से इनका वर्णन करता रहा हूँ, लेकिन आज का विषय परम विलक्षण एवं अति दुर्लभ है, आपकी विशिष्टतम् एकाग्रता वांछनीय है।

आज तक किसी मानव ने अपना स्वयं का जन्म और मृत्यु नहीं देखी है और न देख पाने की सम्भावना ही है। जन्म और मृत्यु दोनों कल्पनाएँ ही हैं। इसलिए इन दोनों छोरों के बीच हमारा जीवन भी कल्पना बन जाता है। हम जन्म से पहले अपने प्रारम्भारम्भ (Beginning of the beginning) यानि जब माँ के गर्भ में मेरी देह के लिए भ्रूण के रूप में गर्भाधान हुआ, उस भ्रूणावस्था पर एकाग्र करें, तो पाएँगे कि वही हमारी भौतिक देह का वास्तविक प्रारम्भ है। हम इस तथ्य को जाने-अनजाने या मूर्खतावश उपेक्षित किए रहते हैं। इसी प्रकार हमारे जीवन के अन्त **'मृत्यु'** का भी एक

अन्त है **'भस्मी',** जिसे हमने अन्त का अन्त यानि **'अन्तान्त'** नाम दिया था। यह **'भस्मी'** जीवन का निश्चित, परिलक्षित, दर्शित भविष्य है। इस सत्य को कोई नकार नहीं सकता, चाहे व्यक्ति किसी धर्म-कर्म, विचार-धारा अथवा देशकाल का हो, लेकिन हम इसे भी अक्सर उपेक्षित किए रहते हैं।

हमारा प्रारम्भारम्भ और अन्तान्त दोनों अकाल व निराकार हैं। आइए, आज हम प्रारम्भारम्भ पर विशेष रूप से एकाग्र करें, जोकि हमारी देह की अति-अति महत्त्वपूर्ण अवस्था है, जिसे **'भ्रूणावस्था'** कहते हैं। आजकल सी. डी. चली हैं और एक D.V.D. होती है (Digital Video Disc) जिसे हम देख सकते हैं और D.V.D. Player में चलाकर इसमें अंकित दृश्यों को भी देखते हैं। ईश्वर की D.V.D. यह हमारा प्रारम्भारम्भ या **भ्रूणावस्था** है। इसे हम अपनी आँखों से देख नहीं सकते। यह बिन्दु, मात्र इलेक्ट्रोनिक माइक्रोस्कोप से देखा जा सकता है। **माता-पिता, शिव-शक्ति की आनन्दमय क्रीड़ा एक स्वरूप धारण करती है–वह भ्रूण या D.V.D., जिसे अंग्रेज़ी में Zygote कहते हैं।** यह प्रकरण अति अद्भुत् व विचित्र है। यहाँ मानव-बुद्धि पूर्णतः लुप्त हो जाती है, और निरुपाय व अशक्त होकर सोचने से इन्कार कर देती है।

माता के गर्भाशाय (Ovum) को पिता के तीस से चालीस करोड़ शुक्राणु घेरते हैं। उनमें से मात्र एक शुक्राणु गर्भाशय (Ovum) को गर्भित करता है। शेष सब कालान्तर में लुप्त हो जाते हैं। वह भ्रूण (Zygote) हमारी देह का प्रारम्भारम्भ है, जिसे नग्न नेत्रों से देखा नहीं जा सकता, यही ईश्वर की D.V.D. है। इस D.V.D. में प्रभु ने हमारी देह व देह पर आधारित जगत का सम्पूर्ण विवरण अंकित किया है। इसीके अनुसार संसार महानाट्यशाला के पर्दे पर समय-समय पर समस्त प्रस्तुतिकरण होता रहता है। इस देह को किस घड़ी, नक्षत्र, स्थान में, किन माता-पिता की देह का अवलम्बन लेकर, किन-किन लोगों की उपस्थिति में, किस डॉक्टर द्वारा और किस विशिष्ट नर्सिंग होम में पैदा होना है। भाई-बहनों में इसका कौन सा नम्बर होगा, बचपन कैसे बीतेगा, किस पाठशाला और विश्वविद्यालय में

किन-किन विषयों की, किन-किन अध्यापकों द्वारा पढ़ाई होगी, संगी-साथी कौन होंगे। फिर कौन से कैरियर को चुनकर कहाँ-कहाँ नौकरी या व्यापार होगा। हमारी युवावस्था कैसे बीतेगी, विवाह-शादी, सन्तानें, कब-कब, किस-किस प्रकार होंगी। इन प्रकरणों के दौरान हमारी पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियाँ कैसी होंगी। कब कहाँ युद्ध होंगे या लड़ाइयाँ लड़ी जाएँगी। हमें कहाँ मरना है, तो अर्थी कौन बनाएगा, कन्धा कौन देगा, कौन दाह-संस्कार करेगा या दफ़न करेगा। यदि दाह-संस्कार होगा, तो भस्मी कब बनेगी और कौन उसे गंगा या यमुना में विसर्जित करेगा। यह सब कुछ उस ईश्वरीय सूक्ष्मतम् बिन्दु रूप D.V.D. में अंकित रहता है। आप अनुमान लगाएँ कि क्या कोई वैज्ञानिक ऐसी D.V.D. बना सकता है? इस D.V.D. के आखिरी 'D' यानि Disc को Dot माना लीजिए। यह हमारी देह का निश्चित रूप से भौतिक प्रारम्भारम्भ है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है, कि जब यह 'D.V.Dot' तैयार होकर सक्रिय हो गया, तब माता-पिता दोनों को इसका कोई भी ज्ञान नहीं था। वह बिन्दु न केवल तैयार हुआ, बल्कि सक्रिय हुआ और उसी के अंकन के अनुसार हमारा समस्त ब्रह्माण्ड प्रेरित व संचालित होना प्रारम्भ हो जाता है। यह इतनी सक्रिय और **प्राणयुक्त 'D.V.Dot' है, कि जिसमें हमारी अपनी देह भी होती है और सारा ब्रह्माण्ड जो उस देह के साथ जुड़ा होता है, वह भी होता है।** ईश्वर ने एक आनन्द की क्रीड़ा में ऐसा विलक्षण 'D.V.Dot' निर्मित किया, यह सोच कर प्राणगतियाँ ऊर्ध्व हो जाती हैं। यह सारा उसी 'D.V.Dot' का खेल है, जो हम सबको खिलाया जाता है।

सबसे विचित्रतम् एवं महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है, कि जब वह 'D.V.Dot' माँ के गर्भ में बनकर सक्रिय होता है, तब माता-पिता दोनों को कोई ज्ञान नहीं होता। महीने, सवा महीने बाद पता चलता है, कि कुछ हो गया है। अर्थात् यदि मैं अपनी उस भ्रूणावस्था पर अति एकाग्र करूँ, तो मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचूंगा, कि मेरी देह के उस प्रारम्भारम्भ यानि **'भ्रूण'** के तैयार होकर सक्रिय होने का एकमात्र कारण ईश्वर ही था। उसका कारण मैं

अपने माता-पिता को भी नहीं बना सकता, क्योंकि उन्हें तो ज्ञान ही नहीं था, कि वह तैयार होकर, वहाँ आ गया है।

मेरे माता-पिता को एक डेढ़ महीने बाद यह ज्ञान हो गया, कि मैं गर्भ में हूँ। उसके बाद के कार्यक्रम संचालित करने वाला भी ईश्वर ही था, जिसने वह भ्रूण या 'D.V.Dot' तैयार किया था। लेकिन **अब उस संचालन का कुछ भाग मेरे माता-पिता तथा मेरे अन्य तथाकथित सम्बन्धियों ने ले लिया।** जैसे, अक्सर गर्भवती माताएँ सुनती हैं, कि बहु धीरे चला करो, ध्यान रखना, आजकल कच्चा नारियल खाया करो, बच्चा गोरा पैदा होगा, रामचरितमानस, श्रीमद्भागवत पढ़ा करो, महाभारत मत पढ़ना, वरना झगड़ालू बच्चा पैदा हो जाएगा आदि। इस प्रकार हमारी देह पर आधारित समस्त जगत का हस्तक्षेप, उस ईश्वरीय प्रकरण में आरम्भ हो जाता है। कोई जुराबें बुन रहा है, कोई स्वेटर बुन रहा है, विभिन्न पूजन शुरू हो जाते हैं। ये हस्तक्षेप भी बहुत अच्छा है, लेकिन इसमें साथ ही अहं आ जाता है, कि मैं ऐसा करूँगी तो ऐसा बच्चा अवश्य पैदा होगा। पता चला कि नारियल खाते हुए भी काला बच्चा पैदा हो गया, तो उसने नारियल खाने का परामर्श देने वाली से पूछा, कि ऐसा क्यों हुआ? तो जवाब मिला, कि नारियल न खाती तो काला रंग और ज्यादा गहरा होता, नारियल खाया, इसलिए ही कम काला है। तो हम उस जवाब से सन्तुष्ट भी हो जाते हैं। जब मेरे माता-पिता को ज्ञान हुआ, कि मैं गर्भ में आ गया हूँ, तो उस समय **'फीटस' (Foetus)** के रूप में मेरी कोई दख़ल-अन्दाज़ी नहीं होती। कोई मेरे लिए क्या सोच रहा है, क्या कर रहा है, मुझे इसका कोई ज्ञान नहीं होता। मैं बाद में अब सोच सकता हूँ कि ऐसा हुआ होगा। पहले एक डेढ़ महीने तो किसी को भी ज्ञान नहीं था, कि मैं भ्रूण रूप में गर्भ में आ चुका हूँ।

अब हम बड़े होकर सोचें, कि हमारी देह के लिए सबसे अधिक आवश्यक हमारे माता-पिता थे। उनके लिए, उनके माता-पिता यानि मेरे दादा-दादी और नाना-नानी होने आवश्यक थे। उनके लिए, उनके माता-पिता यानि मेरे दादा-दादी व नाना-नानी के माता-पिता होने आवश्यक

थे। उनके लिए, उनके माता-पिता, उनके लिए, उनके माता-पिता, इस प्रकार कहते-कहते कई जन्म बीत जाएँगे, लेकिन माता-पिता की श्रंखला समाप्त नहीं होगी। **मैं अपनी देह की भ्रूणावस्था के एक डेढ़ महीने बाद उस अवस्था से स्वयं को ले रहा हूँ, जब मेरे माता-पिता को चेतना हुई, कि मैं उनके गर्भ में हूँ। यह कहानी तब की है। यदि मैं उसके पीछे जाता हूँ, जब मैं भ्रूण रूप में किसी गर्भ में आया, उस समय तो ईश्वर के अतिरिक्त किसी को भी ज्ञान नहीं था। उस समय वह मेरी माता का गर्भ नहीं था, बल्कि हिरण्यगर्भ था।** तो यदि उस लम्बी कहानी को समाप्त करके कहूँ, कि हे प्रभु ! मेरे माता-पिता तुम्हीं हो, तो इसमें क्या अतिशयोक्ति है। क्योंकि जब 'D.V.Dot' बनकर सक्रिय हुआ था, तो मेरे माता-पिता को भी कोई इल्म नहीं था।

लगभग नौ महीने का समय मैंने माँ के गर्भ में बिताया और उस समय जो कुछ भी कोई मेरे प्रति सोच रहा था अथवा सुचवाया जा रहा था, उसमें मेरी दख़ल अन्दाज़ी बिल्कुल भी नहीं थी। उस 'D.V.Dot' के अनुसार ही सारा खेल चल रहा था। अब नौ महीने बीतने के बाद मेरा जन्म हुआ। जन्म होने के बाद मेरा पालन-पोषण कुछ लोगों के द्वारा हुआ। जन्म देते ही यदि मेरी तथाकथित माँ का देहान्त हो जाए और गर्भ में आते ही मेरे तथाकथित पिता का देहावसान हो जाए, तो भी मेरा पालन-पोषण उस 'D.V.Dot' में अंकित रिकार्ड के अनुसार होता। कोई खिलाता-पिलाता, मेरी साफ-सफाई करता, शरीर में कुछ कष्ट होने पर चिकित्सक को बुलाता। मेरी सब प्रकार से हिफाज़त होती, जिसमें मेरा कोई हस्तक्षेप नहीं होता। **जो मेरे बारे में बहुत कुछ सोचते थे और बहुत कुछ करते थे, उनसे मैं बिल्कुल भी सम्बद्ध नहीं था। उन्हें मैं कोई धन्यवाद भी नहीं देता था। मेरे प्रति या तो कोई सोच कार्य करती या असोच-सोच कार्य करती।** कई बार माँ का ध्यान कहीं और होता है और कोई राह चलता अचानक बच्चे को गिरता देखकर बचा लेता है। जब शैशवावस्था में मेरी कोई सोच नहीं होती, तो मेरे लिए इस प्रकार कोई सोच और कोई असोच-सोच कार्य करती रहती है।

सबसे महत्त्वपूर्ण यह है, कि जितने लोग मेरे लिए बहुत चिन्तित होते हैं, मैं उनसे बिल्कुल भी सम्बद्ध नहीं होता। कोई मर जाए, बीमार पड़ जाए, मुझे उनकी कोई परवाह नहीं होती। एक मेरी मानसिक अवस्था वह थी।

ये तीन मानसिक अवस्थाएँ हैं—**पहली,** जब मेरी देह के लिए **'भ्रूण'** बनकर माँ को गर्भ सक्रिय हुआ, जिसका मेरे माता-पिता को भी कोई ज्ञान नहीं था। **दूसरी,** अवस्था वह हुई जब माता-पिता को ज्ञान हुआ, कि हमारे घर में शिशु पैदा होने वाला है। **तीसरी,** अवस्था जन्म के बाद की अवस्था थी, जिसमें माता-पिता का होना, न होना बहुत आवश्यक नहीं था। लेकिन मेरे लिए बहुत से लोग सोचते थे और कार्य करते थे, जिनसे मैं बिल्कुल सम्बद्ध नहीं था। फिर मैं कुछ और बड़ा हुआ। मेरा नाम रख दिया गया तथा मैं स्वयं को पहचानने लगा। अपने माता-पिता तथा अन्य लोगों से सम्बद्ध होने से पहले एक औपचारिकता है, कि मुझे पहले स्वयं को अपने नाम-रूप से पहचानना होता है, कि मैं अमुक-अमुक हूँ। संसार को मान्यता देने से पहले मैंने अपनी देह को मान्यता दी। 'D.V.Dot' में मेरी देह भी थी और उस देह पर आधारित मेरा समस्त सूक्ष्म जगत भी था, जो उसमें अंकित रिकार्ड के अनुसार मेरे सामने आ रहा था।

जब तक मैंने अपनी उस देह को मान्यता नहीं दी, तब तक मेरा अपने जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं था। किसी ने मेरे वस्त्र बनाए, खिलौने चुने, किसी ने मेरे स्कूल का चुनाव किया। स्वभाव मेरा था, उसका अध्ययन मेरे लिए कोई और कर रहा था। उसके अनुसार मेरे स्कूल या कैरियर का चुनाव किया जा रहा था, मुझे इस सबका कोई इल्म नहीं था। एक मेरी मानसिक अवस्था वह भी थी। **उसके बाद 'मैं' ने स्वयं को अपने नाम-रूप से पहचाना और मैं भी कुछ बन गया। फिर मैं अपने पैरों पर खड़ा हो गया और मैंने कहा सब हट जाओ, यह मेरी ज़िन्दगी है। अपने लिए स्वयं निर्णय लूँगा, मैं बहुत समझदार हूँ, पढ़ा-लिखा हूँ।** मेरी सोच मेरी अपनी हो गई तथा मैंने अपने आप को विकसित कहना शुरू किया। एक मेरी मानसिकता वह हो गई। इस प्रकार ये विभिन्न मानसिक अवस्थाएँ थीं:—

पहली मानसिकता—मुझे अपने बारे में तथा माता-पिता के बारे में कुछ ज्ञान नहीं था। मेरे माता-पिता को भी ज्ञान नहीं था, कि मैं गर्भ में हूँ, पर ईश्वर को तो सब कुछ ज्ञान था। तभी तो एक विशेष पिता के अंश से एक विशेष माता के गर्भ में मुझे भ्रूणरूप में प्रस्थापित किया गया। भ्रूण रूप उस 'D.V.Dot' में अंकित रिकार्ड के अनुसार मेरे माता-पिता तथा मुझ पर आधारित जगत का चुनाव हो चुका था। उस अदृश्य बिन्दु में, जो भौतिक रूप से था, उस बनाने वाले ने मेरे सम्पूर्ण जीवन का ढाँचा सक्रिय रूप से अंकित किया हुआ था, जिसके अनुसार मेरी देह की सारी कहानी शुरू हुई।

दूसरी मानसिकता—कुछ सप्ताह के अन्तराल के बाद जब मेरे माता-पिता को यह ज्ञान हुआ, कि मैं गर्भ में हूँ, मेरे माता-पिता तथा उनके चाहने वालों ने कुछ हस्ताक्षेप करना शुरू कर दिया। सबका भाव यह रहता था, कि गर्भ में अभिमन्यु की तरह सब कुछ सिखा कर छोड़ेंगे। बहुत तरह की बातें प्रारम्भ हो जाती हैं। उसके लिए किताबें भी पढ़ी जाती हैं, कि गर्भावस्था में क्या-क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए आदि-आदि। किसी को यह तो ज्ञान होता नहीं, कि बीज कैसा है। वह बीज जो ईश्वरीय-कृपा से बोया गया है और उसी की इच्छा से पल्लवित होना होता है। फिर उसके बाद अपने कृत्यों का अहं भी रखते हैं। यदि कोई उत्कृष्ट बच्चा पैदा हो गया, तो डींग मारते नहीं थकते, कि मैंने गर्भावस्था में ये-ये किया था। यदि नालायक औलाद हो गई, तो उसे ईश्वर-इच्छा मान लेते हैं। यहाँ भी मेरा हस्तक्षेप बिल्कुल नहीं था। यह दूसरी मानसिक अवस्था थी। गर्भ में मेरी देह के निर्माण में पूर्णतः ईश्वरीय इच्छा कार्यरत थी।

तीसरी मानसिकता—मेरा शिशु रूप में जन्म हुआ, उस समय बहुत से लोग मेरे लिए चिन्तित थे। कोई **सोच, सोच** मेरा कार्य कर रही थी, कुछ **असोच-सोच** कार्य कर रही थी। जो मेरे साथ सम्बद्ध थे, मैं उनके साथ बिल्कुल भी सम्बद्ध नहीं था। यह तीसरी मानसिक अवस्था थी। फिर मैं कुछ बड़ा हुआ, किसी ने मेरे लिए स्कूल का चुनाव किया। उसमें भी मेरी दख़ल-अन्दाज़ी नहीं थी। मैं निर्द्वन्द रूप से शिशुवत् सबके सामने अपनी

माँगे रख देता था–अम्मा ! आज यह खाना है, यह पहनना है, यह खिलौना चाहिए आदि। मुझे ज्ञात था, कि कोई मेरे लिए सब कुछ प्रबन्ध करने हेतु है। यह मेरी **चौथी मानसिक अवस्था** थी।

मेरी **पाँचवी मानसिक अवस्था** वह हुई, जब मैं शिक्षित होकर स्वयं में कुछ बन गया तथाकथित परिपक्व हो गया, तब मैं अपने लिए स्वयं निर्णय लेने का इच्छुक हो गया। कहानी एक अदृश्यप्रायः बिन्दु से शुरू होकर पूर्णतः विकसित परिपक्व वयस्क तक आ गई। अब मैंने बहुत कुछ करना शुरू कर दिया। पहले मैंने कुछ करने का सोचा और फिर वह करके ही छोड़ा। मैं दृढ़ संकल्प करने लगा और अपनी इच्छा-शक्ति की डींग भी मारने लगा। कभी कोई महापुरुष मुझसे टकरा गया, तो उसने पूछा, कि यह जो कार्य आप कर रहे हैं, इसके बारे में आपने कब सोचा था? मैंने कहा कि कल सोचा था। उन्होंने पूछा, कि कल ही क्यों सोचा, पहले क्यों नहीं सोचा और सोचते तो आप बहुत कुछ हैं, एक यह विशेष सोच ही कार्यान्वित क्यों हुई? इस सोच के क्रियान्वयन में कई सहायक, कई बाधक मिले होंगे, वे क्यों मिले? कइयों ने बाधाएँ, रुकावटें दूर करने के लिए डालीं, कइयों ने बाधाएँ रुकावटें डालने के लिए डालीं। विचार करिए ! हम अन्धों की भाँति जीवन व्यतीत नहीं कर सकते, हमें मानव-देह दी गई है, जो ईश्वर की सम्पूर्ण सत्ता की प्रतिनिधि है।

हम अधिकतर सोचते ही रहते हैं, लेकिन एक विशेष सोच ईश्वरीय प्रेरणा के रूप में आई और क्रियान्वित होने लगी। हम सब उसी प्रकार की विशेष सोचों के अनुसार ही कुछ न कुछ करते रहते हैं। हम कुछ डिग्रियाँ, कोई पद, कोई धन-सम्पदा, नाम-यश, प्रतिष्ठा, विभिन्न शक्तियाँ, प्रभाव, प्रतिभाएँ आदि कुछ सोचों के तहत पाना चाहते हैं। कुछ न कुछ खोना चाहते हैं। मैं यहाँ उस पाँचवी मनःस्थिति के बारे में बता रहा हूँ, जब मेरी बुद्धि पूर्णतः परिपक्व हो जाती है और मैं स्वयं को अपने निर्णय लेने योग्य मान लेता हूँ। **मैंने कार्य करने शुरू कर दिए, जो कार्य वस्तुतः मेरे द्वारा होने थे, क्योंकि सोच मेरी नहीं थी, मुझसे सुचवाया गया था। जिसकी भी सोच**

थी, वह मेरी उस भ्रूण बिन्दु स्वरूप 'D.V.Dot' में अंकित थी, कि इस समय यह सोच आएगी और उसके अनुसार कार्य होगा। हम ये सोचें कि वह सोच कब, क्यों, कैसे आई और उसी वक़्त क्यों आई तथा कार्यान्वित कैसे हुई? हम उस सोच पर भी कब्ज़ा कर लेते हैं, कि यह मेरी सोच थी और उसके तहत कार्य करते हैं। **जो कुछ मेरे द्वारा होता है उसके लिए मुझे भ्रम हो जाता है, कि मैं कर रहा हूँ और जो कुछ भी मेरे लिए होता है, उसके लिए मैं भ्रमित रहता हूँ, कि यह सब मेरे कारण हो रहा है।**

जब मैं यह कहता हूँ, कि मैं अपने पैरों पर खड़ा हो गया हूँ, यह मेरी व्यक्तिगत मानसिक बौद्धिक जागरूकता की स्थिति है। इसमें मेरी आई. क्यू. वाली बुद्धि सक्रिय रहती है और मैं हर सोच को अपनी मानकर कार्य करते हुए तनावित, भयभीत रहता हूँ। प्राप्ति या खोना मेरा कर्मफल बना रहता है और दोनों ही मेरे दुःख का कारण बने रहते हैं। इस मानसिक बौद्धिक जागरूकता की अवस्था में, इस अवस्था से मैं अपने 'D.V.Dot' वाले प्रारम्भारम्भ की मानसिक स्थिति तक उन चार मानसिक अवस्थाओं पर विचार करूँ तो पाऊँगा कि विवेक, प्रज्ञा, मेधा और ऋतम्भरा वस्तुतः ये चार मानसिक स्थितियाँ हैं। जब आपने स्वयं को देह के रूप में पहचाना, तो आपका मात्र एक ही कर्म है, कि आप आज तक की मानसिक स्थितियों से प्रारम्भारम्भ की उस बिन्दु वाली मानसिक स्थिति में आ जाइए। पहले वे चारों मानसिक अवस्थाएँ आपकी अबोधता में थीं। आपको इनका कोई ज्ञान नहीं था। **अब मानसिक बौद्धिक जागरूकता में आप aware हों कि ऐसा ही होता है। पहले मेरी अबोधता अज्ञानमयी थी, अब ज्ञानमयी अबोधता हो जाए।**

जब हम होश सम्भालते हैं, तो हमारा कर्म क्या है, कि हम उन चार स्थितियों पर एकाग्र करें, कि बिना किसी हस्तक्षेप के इतनी उत्कृष्ट काया बनकर तैयार हो गई, जिसका कोई एक बाल तक नहीं बना सकता। आज मानव वैज्ञानिक प्रगति के युग में चन्द्रमा आदि ग्रह-नक्षत्रों तक पहुँच गया, लेकिन स्वयं अपने से दूर होता चला गया, क्योंकि आई.क्यू. वाली भौतिक

बुद्धि की तीव्रता में उसने अपनी चार ईश्वरीय बुद्धियों को आच्छादित करके लुप्तप्रायः कर दिया।

प्रथम मानसिकता–'**ऋतम्भरा**'–भ्रूणावस्था Zygote जिसमें सम्पूर्ण मानव-जीवन का ख़ाका होता है। देह व उस पर आधारित समस्त जगत जो भूतकाल में बन गया, वर्तमान में बन रहा है और जो भविष्य में बनेगा, सक्रिय रूप से अंकित है, जिसकी प्रस्तुति प्रारम्भ हो चुकी है। एक सवा महीने तक माँ को भी जानकारी नहीं होती। तब तक वह बिन्दु हिरण्यगर्भ में सक्रिय रहता है, जिसका एकमात्र कारण (कारणं-कारणानाम्) ईश्वर होता है। उसमें मेरी एक नाम-रूप की देह और उस पर आधारित सम्पूर्ण जड़-चेतन जगत तथा काल की तीनों विधाएँ अंकित हैं, जो बिना किसी के हस्तक्षेप व जानकारी के समय-समय पर मेरे लिए प्रकट होती हैं, या हो चुकी हैं। यदि अब होश सम्भालने पर मैं सद्गुरु-कृपा से उस मानसिक स्थिति में प्रविष्टि पा लूँ, कि देह और उस पर आधारित सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड स्वतः निर्मित, पालित एवं विलीन हो रहा है, तो उस मानसिक स्थिति में मेरी जिस बुद्धि का प्राकट्य होगा, वह **ऋतम्भरा** है। वहाँ कोई भी जीवीय आभास नहीं होगा, क्योंकि मेरे तथाकथित माता-पिता को भी कुछ ज्ञान नहीं था, कि मैं गर्भ में आ चुका हूँ।

द्वितीय मानसिकता–'**मेधा**'–तीन-चार सप्ताहों बाद जब मेरी तथाकथित माँ को ज्ञान हुआ, तो वह चौकन्नी हो गई और मेरे शेष तथाकथित सम्बन्धी भी दख़ल-अन्दाज़ी करने लगे। जब उस 'D.V.Dot' में कुछ मानवीय हस्तक्षेप प्रारम्भ हो गया, तो वह हिरण्यगर्भ माँ का गर्भ बन गया। मात्र मेरी एक देह उसमें विकसित होने लगी तथा मेरी देह पर आधारित समस्त महाब्रह्माण्ड बाहर चला गया, क्योंकि माँ ने मुझे अपनी सन्तान यानि एक व्यक्तिगत देह के रूप में ले लिया। यद्यपि माता या पिता तथा उन तथाकथित सम्बन्धियों को मेरी देह के बारे में कुछ नहीं पता, कि सन्तान पुत्र है या पुत्री है, किस गुण व स्वभाव का है और मुझे तो कुछ ज्ञान है ही नहीं। **इस मानसिक अवस्था में एकाग्र करने पर मेरी जिस बुद्धि का प्राकट्य**

होगा, वह 'मेधा' है। पहले तो वह सब मेरी अबोधता में हुआ, यदि बोधता में मैं उस स्थिति में सद्गुरु-कृपा से प्रविष्टि पा लूँ, तो मेधा नामक बुद्धि जाग्रत हो जाएगी। मैं सोचूँ कि मेरी देह के अंग-प्रत्यंग बन रहे हैं, मुझे कुछ नहीं मालूम। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश व अग्नि इन पंच-महाभूतों से निर्मित मेरी देह ऐसे स्थान पर बन रही है, जहाँ इन पंच-महाभूतों की प्रविष्टि ही नहीं है, वह ऐसा विशिष्टतम् स्थान है। वहाँ मेरी देह के लिए यह पंच-तत्त्व कौन, कैसे पहुँचाता है? बड़ा ही विचारणीय विषय है।

उस 'D.V.Dot' में अंकित रिकार्ड के निर्देशानुसार एक सीलबन्द स्टूडियो में यथाविधि ईश्वरीय नियमानुसार एक निश्चित अवधि में मेरी पंच-महाभूतों की देह का निर्माण होता है। जहाँ पंच-महाभूतों की प्रविष्टि ही नहीं है। अपनी बोधता में इष्ट-कृपा से उस मानसिक स्थिति में प्रविष्टि मेरी **मेधा** को अनावृत कर देती है। **यह मेधा बुद्धि की वह विधा है, जो सद्गुरु व शास्त्रों के शब्दों के सही अर्थ ग्रहण करने में सक्षम है।** यह दूसरा सोपान है।

तृतीय मानसिकता—'प्रज्ञा'—मेरा पृथ्वी पर पदार्पण एक पूर्णतः अबोध शिशु के रूप में हुआ, जो लोगों की हँसी से हँसता है। उसे हँसी का कारण ज्ञात ही नहीं है। दूसरों को क्रोधित व डरा हुआ देखकर डर जाता है, रो देता है। उसे किसी दुःख-सुख से कुछ लेना-देना नहीं है। सब उससे सम्बद्ध हैं, वह किसी से सम्बद्ध नहीं है। घर में होने वाली लाभ-हानि से उसे कोई ताल्लुक़ नहीं है। यदि अपनी बोधता में इष्ट-कृपा से उस मानसिक स्थिति का विकास हो जाये, तो यह परमहंस स्थिति है। यहाँ बुद्धि की तीसरी दिव्य विधा **प्रज्ञा** जाग्रत हो जाती है।

''उदित सूर्य जेहि भाँति ते अथवत् ताहि भाँति।''

उस समय मुझे देहाभास मात्र होता है, देहाध्यास नहीं होता। देहाध्यास में **प्रज्ञा** नहीं जाग्रत हो सकती, क्योंकि तब हम **'सम'** नहीं रह सकते। सम्पूर्ण जगत हमारे गले पड़ जाएगा। प्रज्ञा जाग्रत होने पर देहाभास रहेगा, लेकिन देहाध्यास नहीं होगा और आप परम शांत आनन्दमयी मनःस्थिति में होंगे। माँ के गर्भ में तो देहाभास भी नहीं होता। शैशवावस्था में

उसे देहाभास मात्र होता है, लेकिन अपनी एक नाम-रूप की देह के साथ स्वयं को न पहचानने के कारण देहाध्यास नहीं होता। शिशु को जो भी वस्तु चाहिए, वह किसी से भी माँग लेता है, न मिलने पर रो देता है। उसे मेरे-तेरे का भी कोई ज्ञान नहीं होता। **पहले 'मैं' देह होने के बाद मेरा जगत होता है, नहीं तो सब कुछ अपना ही होता है।** उसे बड़ा आश्चर्य होता है, जब उसे किसी दूसरे की वस्तु माँगने पर डाँट पड़ती है, वह सोचता है, जब वस्तु सामने पड़ी है तो मैं ले क्यों नहीं सकता ! शिशु का अधिकार असीम होता है।

चतुर्थ मानसिकता—'विवेक'—स्थिति वह है, जब हम अपनी सोच पर सोचते हैं, कि मेरी यह सोच देहाध्यास में है या ईश्वरीय है। क्योंकि ईश्वरीय सोच आनन्दमय होती है, सब कार्य स्वतः होगा, करवाया जाएगा। नहीं तो तनाव में ही कार्य होगा और तनाव में ही प्राप्ति होगी, यदि होगी तो। ईश्वरीय सोच में समय-समय पर प्रकाट्य होता रहेगा। **विवेकशील व्यक्ति स्वयं नहीं सोचते, बल्कि सोच पर सोचते हैं।** उनका अपना बल कुछ नहीं होता। वे प्रभु-आश्रित रहते हैं, जिस प्रकार कि शिशु अपने माता-पिता के आश्रित रहता है, कि मैं अपने पापा से कह दूँगा या मेरी माँ ही मेरे लिए खिलौने लाएगी। बोधता में यह स्थिति आने पर जीव मान-अपमान दोनों को प्रभु का प्रसाद ही मानता है।

इस प्रकार जीव अबोधता में ऋतम्भरा से प्रारम्भ कर मेधा, प्रज्ञा और विवेक से होता हुआ पाँचवी स्थिति में पहुँचता है। यहाँ उसे ईश्वर की ओर से बुद्धि मिल जाती है। बुद्धि इसलिए मिलती है, कि अपनी बोधता में तू उन चार मानसिक अवस्थाओं पर एकाग्र करते हुए, वहीं उस बिन्दु की मानसिक अवस्था में पहुँच जा। अबोधता से उतर कर बुद्धि तक आया, कि बुद्धि से तू सोच कि तू मानव-देह धारण करके आया है। तू सोच, कि किस प्रकार ईश्वर तेरे लिए विभिन्न स्थितियों व सोपानों पर सब कुछ प्रबन्ध करता रहा। वह अब भी कर रहा है। **बिन्दु से अबोधता में जीव चला और उसे बोधता में सद्‌गुरु-कृपा से उसी बिन्दु 'D.V.Dot' वाली मानसिक स्थिति विकसित करनी होगी। यही साधना है और पुरुषार्थ है।** समस्या वहाँ हुई

कि पाँचवें सोपान पर बुद्धि परिपक्व होते ही जीवात्मा को देहाध्यास हो गया, कि 'मैं देह हूँ और देह मेरी है' और यह गिरता ही चला गया। **बोधता को इसने मूर्खता बना दिया। ऊर्ध्व गमन के बजाय यह देह व देह पर आधारित जगत में फँस गया। 84 लाख पशु योनियों में भटकने लगा और मानव रूप में पशुवत् जीवन यापन करने लगा।**

जीवात्मा को बुद्धि इसलिए मिली थी, कि यह प्रारम्भारम्भ से इस बोधता तक अपनी चार मानसिक अवस्थाओं के बारे में विचार करे। जब ईश्वर विभिन्न रूपों में इसके लिए सब कुछ कर रहा था, **तो अब बोधता में वह अधिकार क्यों खो रहा है। उसे बोधता इसलिए मिली, कि उस समय अबोधता में वह उसके कृत्यों की प्रशंसा नहीं कर सकता था।** अब जो ईधर उसके द्वारा करवा रहा है और उसके लिए करवा रहा है, वह उसकी वाह-वाह करे, प्रशंसा करे, ईश्वर का गुणगान करे। यही मानव-देह का अर्थ है। **लेकिन यह सब प्रकरण कृपा-साध्य है। हम ऋतम्भरा से ही चले थे। मेधा, प्रज्ञा और विवेक से मात्र आई. क्यू. वाली बुद्धि से 'मैं' 'मैं' करने लगे।** अब ज्ञात रूप से अपनी कर्मठता से सद्गुरु-कृपा व साधना द्वारा उसी बिन्दु या भ्रूण वाली मानसिक स्थिति को विकसित करना है। सद्गुरु के चरणों में बिना कुतर्क किए श्रद्धा व समर्पण भाव से जाइए।

हमें कुछ नहीं करना है, हम जीवन **में** भविष्यों में धक्के खा रहे हैं। जीवन **का** भविष्य **'भस्मी'** यदि हम अपने जीवन-काल में ढो लें, तो इस भस्मी की अवधारणा मानस में होने पर वैराग का बीजारोपण हो जाएगा। यह धारणा धीरे-धीरे जैसे-जैसे परिपक्व होगी, तो ये चारों बुद्धियाँ ईश्वर-कृपा से स्वतः जाग्रत होनी प्रारम्भ हो जाएँगी। अरे ! हम Pseudo भस्मी ही ढो लें, कि 'मैं भस्मी बन गया हूँ', तो हमारे मानस में वह बिन्दु रूप में वैराग का गर्भ ठहर जाएगा। वैराग जो ईश्वर की छठी विभूत्यातीत विभूति है। **मानव-देह धारण करके एक ही कर्तव्य है, कि हम तथाकथित होश सम्भालने पर अपने प्रारम्भरम्भ से लेकर अब तक की चारों मानसिक स्थितियों पर मानवीय बुद्धि से विचार करें तो हमारी चारों (विवेक, मेधा,**

प्रज्ञा और ऋतम्भरा) दिव्य बुद्धियाँ सद्‌गुरु-कृपा से जाग्रत हो जाएँगी। तभी हमें अपनी देह (व्यष्टि) और उस पर आधारित जगत (समष्टि) के सत्य का आभास होगा। व्यक्तिगत देह सम्पूर्ण समष्टि का आधार है। ***'जो ब्रह्माण्डे सो पिण्डे'*** एक देह के रूप में भी जीवात्मा स्वयं में व्यष्टि व समष्टि दोनों है। जो तुम देख रहे हो, अपने भीतर को बाहर देख रहे हो। तुम्हें दी गई एक नाम-रूप की देह भी उसी एक निराकार मानस से प्रकट हुई है जिससे सारा जगत प्रकट हुआ है। कैसे? कि **तू आँखें मूँद कर देख।** आँखें खोल कर तू भ्रम में पड़ जाएगा। आँखें मूँदकर तुझे तू और तेरी उस देह पर आधारित जगत भी नज़र आएगा। आँखें खोलकर यदि देखेगा, तो तुझे केवल तू नज़र नहीं आएगा, बाकी सब नज़र आएँगे।

हम अपने जीवन की कोई घटना याद करें, उसमें शेष सम्पूर्ण जगत के साथ हमें अपना वह स्थान तथा अपना वह रंग-रूप भी नज़र आएगा, कि मैं वहाँ बैठा था, अमुक रंग के वस्त्र पहने थे और बाकी सब ये-ये थे। लेकिन जीवन्त वर्तमान में हम आँखें खोलकर अपने अतिरिक्त शेष सबको देखते हैं। आँखें बन्द करके **'मैं'** (जीवात्मा) अपनी नाम-रूप की व्यष्टि देह सहित समस्त जगत को देखता हूँ और आँखें खोल कर मैं अपने (नाम-रूप की देह) अतिरिक्त सबको देखता हूँ। विस्तृत दृष्टि तो **मैं** जीवात्मा की ही हुई। एक व्यष्टि की दृष्टि से मैं अपने अतिरिक्त सबको देखता हूँ, **लेकिन समष्टिगत 'मैं' अपने सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की दृष्टा है।** आँखें खोलकर मेरी **'मैं'** केवल शिवकुमार बन कर शिवकुमार के अतिरिक्त सबको देखती है और आँखें बन्द करके **'मैं'** शिवकुमार सहित सम्पूर्ण जगत को देखती है।

'मैं' एक नाम-रूप की देह नहीं हूँ। **'मैं'** जीवात्मा हूँ। सम्पूर्ण समष्टि का प्रतिनिधि हूँ, जिसमें मेरी नाम-रूप की देह, उस समस्त समष्टि का आधार है। उसमें एक व्यष्टि देह के रूप में मैं **भी** हूँ और उसका आधार समष्टि रूप में **'मैं'** ही हूँ।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(15 जनवरी, 2006)

व्यष्टि-समष्टि

(भाग 2)

ईश्वरीय सत्ता स्वयं में निराकार है और वह निराकार सच्चिदानंद पल भर में साकार कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों का निर्माण करता है। अपने भृकुटि विलास मात्र से वह इनका पालन व संहार करता है। इस प्रकार वह सर्वशक्तिमान परमात्मा खेलना चाहता है। **किसी भी खेल में कम से कम दो पक्ष होने आवश्यक है, स्वयं से स्वयं कोई खेल नहीं सकता। तो ईश्वर ने अपने ही मानस-पुत्र जीवात्मा को निर्मित किया। ईश्वर खिलाता है और जीवात्मा एक से अनेक बनकर खेलता है।** करने-कराने वाला, बनने-बनाने वाला सब वही है। सच्चिदानंद ईश्वर निराकार है, वह प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान पंच-प्राणों का पुंज है। उसका एकमात्र मानस-पुत्र जीवात्मा भी निराकार है। लेकिन सम्पूर्ण खेल साकार में होता है। यह साकार क्रीड़ा पंच-प्राणों के पुंज ईश्वर की प्रतिच्छाया है, माया है, जो पृथ्वी, आकाश, जल, वायु एवं अग्नि पंच-महाभूतों में हैं। ये पंच-महाभूत भी स्वयं में निराकार हैं और सहज जड़ हैं। ये सहज जड़ इसलिए हैं, क्योंकि इन्हें ईश्वर का भी कोई ज्ञान नहीं है और अपना स्वयं का भी कोई ज्ञान नहीं है। वस्तुतः ये मायिक पंच-महाभूत ईश्वर के उपकरण हैं, जो कठपुतली की भाँति ईश्वर के संकेत पर हिलते-डुलते हैं। इन्हीं से समस्त साकार सृष्टि का निर्माण, पालन और संहार होता है।

इस समस्त साकार सृष्टि में परम विलक्षण, सर्वोत्कृष्ट, अद्‌भुत एवं अति चमत्कारिक कृति मानव-देह है, जिसका वर्णन मैं अपने प्रवचनों में

अनेक बार कर चुका हूँ। इस निराकार ईश्वरीय सत्ता की छः विभूतियाँ सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ख्याति, ऐश्वर्य एवं वैराग हैं। जब वह स्वयं लीला के लिए अवतार लेता है, देह धारण करता है, तो इन छः विभूतियों का प्राकट्य उसकी भगवत्ता में होता है। साथ ही उसने अपनी सर्वोत्कृष्ट रचना मानव-देह में भी अपनी ये छः विभूतियाँ ठसाठस भरी हैं। **जीवात्मा एक ही है और उसका प्रतिनिधित्व एक मानव-देह करती है। मानव-देह में ईश्वर का मानस-पुत्र जीवात्मा एक से अनेक बना है।** अपनी भगवत्ता की सारी कलाएँ ईश्वर ने जीवात्मा के लिए निर्मित इस मानव-देह में लगा दीं। इस मानव-देह का अद्‌भुत व चमत्कारिक सत्य यह है कि एक व्यक्ति के रूप में हम ईश्वर की समस्त संरचना का प्रतिनिधित्व करते हैं। "The total totality is represented by one individuality" **एक व्यक्ति सम्पूर्ण महा ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधित्व करता है।**

'व्यष्टि-समष्टि—भाग-1' में मैंने विस्तार से बताया था, कि एक व्यक्ति की दृष्टि से हम कितने महत्त्वपूर्ण हैं, मैंने उसका प्रत्यक्ष भौतिक पक्ष आपके सम्मुख रखा था। मेरे लिए, मेरे माता-पिता आवश्यक थे, उनके लिए उनके माता-पिता आवश्यक थे। उनके लिए उनके माता-पिता आवश्यक थे। कई जन्म हम यहाँ बैठे-बैठे **उनके-उनके** करते रहेंगे, लेकिन कहानी समाप्त नहीं होगी। **ऐसा प्रतीत होता है कि अनादि काल से जबसे प्रभु ने यह सृष्टि रची है, तब से मात्र मेरी व्यक्तिगत देह के लिए ही प्रभु व्यस्त हैं।** हम स्वयं को देह ही मान लें और सोचें कि हमें एक विशिष्ट देह के रूप में, विशिष्ट देश-काल में, विशिष्ट माता-पिता के अंश से पैदा करने के लिए प्रभु युगों-युगान्तरों से, जब से सृष्टि की रचना आरम्भ की, तब से लगे हुए हैं। ईश्वर ने मानव-देह देकर इतनी उत्कृष्ट बुद्धि दी, लेकिन हम अपने बारे में कुछ नहीं जानते और न जानना ही चाहते हैं। अहं में अति बुद्धिजीवी हुए निरर्थक व नकारात्मक जीवन बरबाद कर रहे हैं।

दैवीय कार्य समष्टि से आरम्भ होते हैं और व्यष्टि को फल प्राप्त होता है। समष्टि से व्यष्टि तक आ जाते हैं। जैसेकि हमारी देह माँ के

गर्भ में बनी। यह कोई व्यक्तिगत कार्य था। मेरी एक देह का बीज पड़ने के लिए युगों-युगान्तरों से समष्टि में जो-जो प्रक्रियाएँ आरम्भ हुईं उनकी गणना और वर्णन करना तो क्या, हम पूरी तरह से सोच भी नहीं सकते। नौ महीने में हमारी देह बन गई, जिसका हम एक बाल, एक नाखून भी नहीं बना सकते। उस सघन D.V. Dot में युगों-युगान्तरों की हमारी समस्त देहों का पूर्ण विवरण है, जो Dot नग्न नेत्रों से देखा भी नहीं जा सकता। **इसमें पाँचों प्राणों की शक्ति के साथ काल की तीनों विधाओं में होने वाला पंच-महाभूतों का समस्त खेल समाहित है।** वह D.V. Dot उस विशिष्टतम् आनन्द का परिणाम है, जो निराकार है। उसका साकार में D.V. Dot बनकर प्रकाट्य हो जाता है। यदि योगी उन प्राणशक्तियों की आनन्दमय ऊर्जा को ऊर्ध्व ले जाए, तो उसमें ज्ञान, ख्याति, ऐश्वर्य, शक्ति, सौन्दर्य, वैराग आदि समस्त विभूतियों की उत्पत्ति होती है। **जो योगी उस आनन्द को ऊर्ध्व ले जाता है उसे ऊर्ध्वरता कहते हैं। शिव-शक्ति की निराकार में हुई क्रीड़ा का प्रकाट्य किसी न किसी रूप में अवश्य होता है।** वह D.V. Dot समस्त समष्टि को स्वयं में समेटे होता है, जिसमें व्यष्टि रूप में आप भी हैं। अर्थात् जिसमें आपकी देह सहित समस्त महाब्रह्माण्ड हैं, जो केवल आपके लिए, आपकी देह से पहले बन चुका है। जो कुछ देह के बनने के समय बन चुका है और बन रहा है और जो देह के बनने के बाद बनेगा व मिटेगा, वह सब उस D.V. Dot में अंकित है। सब कुछ उसी अंकन के अनुसार निर्देशित व संचालित होता है। जो पहले हो चुका है वह भी उसी Dot की वजह से हुआ है। इसलिए हमारे जीवन में जितनी प्राप्तियाँ होती हैं, वे प्रकाट्य हैं। किसी प्रक्रिया का परिणाम नहीं है, क्योंकि सब प्रक्रियाएँ भी उस Dot में अंकित रिकार्ड के अनुसार ही होती हैं। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सब कुछ प्रकाट्य है। ये सूर्य, चन्द्रमा, सागर, पहाड़ किसी प्रक्रिया से नहीं बने हैं। **प्रकाट्य स्वयं में भ्रम है, क्योंकि मायिक है और प्रक्रिया भ्रम में महाभ्रम है।** वास्तव में जो प्रकाट्य है वह मानस का प्रकाट्य है।

जो काम आप कर रहे हैं, वह काम शुरू होने से पहले ही समष्टि में प्रक्रिया हो चुकती है। जिस कालोनी में आपने मकान बनाना है, वह पहले से ही बस चुकी होती है। नहीं तो एक अकेला मकान सारे शहर में भूत बंगला ही होगा। आपके लिए पहले इतने लोग बसे, फिर आप आए। जिस बाज़ार में आपकी दुकान होनी है, वहाँ पूरा बाज़ार सजाया जाता है। नहीं तो एक आपकी दुकान पर वीराने में कौन ग्राहक आएगा। जिस स्कूल या कॉलेज में आप शिक्षा प्राप्त करते हैं, जिस ऑफिस में आप काम करते हैं, वह आपके पैदा होने से पहले ही बन चुका होता है। **अतः हमारी व्यष्टि के साथ समस्त समष्टि सम्बद्ध होती है।** हमारा सम्पूर्ण जीवन समष्टिगत निजता का ही परिणाम होता है। पूरे जीवन की बात छोड़िए, जीवन का एक दिन लीजिए। आज रविवार 15 जनवरी 2006 है। मुझे छोड़कर यहाँ 1200 लोग बैठे हैं। आप सब स्वयं से आश्वस्त हो जाएँ कि प्रत्येक के लिए यहाँ 1199 लोग आए हैं, मुझे तो प्रवचन देने आना ही था। आप स्वयं को व्यक्ति के रूप एक देह मान लें तो भी आप सब पाएँगे कि आपके लिए यहाँ 1199 लोग न जाने कहाँ-कहाँ से प्रवचन सुनने आए है, मैं वक्ता के रूप में आया हूँ। पूरे विश्व में सबके लिए आज रविवार, 15 जनवरी 2006 है, लेकिन यह एक दिन सबके लिए पृथक्-पृथक् है। किसी ने आज कुछ खोया, किसी ने आज कुछ पाया। किसी के घर किसी का जन्म हुआ, किसी के घर किसी की मृत्यु हुई। किसी से कोई मिला, किसी से कोई बिछुड़ा। किसी का मित्र आज शत्रुवत् हो गया, किसी का शत्रु आज आकर गले लग गया। किसी को लाभ हुआ, किसी को हानि हुई। इस प्रकार प्रभु ने विश्व के समस्त प्राणियों के लिए एक ही दिन, अनेक कर दिया। **यदि आप स्वयं से कहें, कि यह दिन केवल मात्र मेरे लिए है, तो इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं है।** ये सम्पूर्ण कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड मेरा ही निवास है, यही मेरा दौलतखाना है। सम्पूर्ण धरती मेरा बिछौना है, आकाश वह शामियाना है, जिसके नीचे मैं रहता हूँ। सूर्य-चन्द्रमा एवम् अनेक नक्षत्र मेरे लिए चमकते हैं, समुद्र, नदियाँ, झरने मेरे लिए बहते हैं, हवा मेरे लिए चलती है। प्रत्येक दिन मात्र मेरे लिए निकलता

है। क्योंकि सम्पूर्ण विश्व के लिए जो एक ही दिन है, उसका निर्माण प्रभु ने मेरी एक देह के लिए विशेष रूप से पृथक् किया है। मानव-देह मुझे दी गई है। अतः मैं विचार करूँ कि जब से मैंने होश सम्भाला, मैं उस देह का प्रयोग कैसे कर रहा हूँ? मेरे लिए प्रभु स्वयं युगों-युगान्तरों से सृष्टि की रचना कर रहे हैं। उन्होंने स्वयं मेरे लिए कई अवतार लिए हैं और मुझे विशिष्ट माता-पिता के अंश से, विशेष देश-काल, परिस्थिति में देह देकर उतारा है तो उसका कुछ कारण तो होगा।

"The Total totality was for my individuality" **सम्पूर्ण महासमष्टि एक व्यष्टि के लिए थी, है और रहेगी।** लेकिन होश सम्भालते ही नाम-रूप की अवचेतना में आकर **'मैं'** बेहोश हो गया, कि 'मैं देह हूँ', मुझे अपना पालन-पोषण करना है, कैरियर बनाना है। एक जीवात्मा के लिए ईश्वर ने जो इस समय देह दी है, उसके लिए प्रभु अनादि काल से व्यस्त हैं। इस देह को जीवात्मा ने अपना स्वरूप मान लिया, जिसके कारण यह सम्पूर्ण समष्टि से पृथक् हो गया और अकेला नाम-रूप की एक देह में तुच्छ व संकीर्ण सा जीव बन गया। हम सब एक व्यक्ति की दृष्टि से परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। सबका रंग-रूप, चाल-ढाल, जात-पात, अक्ल-शक्ल, वज़न-कद, पद-प्रतिष्ठा, जीवन-स्तर, व्यवहार, मर्यादाएँ, मान्यताएँ, शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक शक्तियाँ, शैक्षिक परिवेश, डिग्रियाँ आर्थिक, समाजिक स्तर, प्रभाव, घर-बार, धर्म-कर्म, आस-पड़ौस सब कुछ परस्पर भिन्न हैं, लेकिन हम सबने अपने साथ **'मैं'** को लगाया हुआ है। **'मैं'** अकेली नहीं झगड़ती, पर व्यक्ति रूप में हम आपस में झगड़ते हैं। मैंने समष्टिगत **'मैं'** को चुरा कर अपने नाम-रूप की देह के साथ बाँध लिया। 'मैं देह हूँ' कहते ही समष्टिगत **'मैं'** को अपनी मान लिया और अति संकीर्ण कर दिया। **जब समष्टिगत 'मैं' को संकीर्ण करके व्यष्टि 'मैं' तक सीमित कर दिया, तो वहाँ से 'प्रारब्ध' का सिलसिला शुरू हो गया। हमने स्वयं को समष्टि से नहीं जोड़ा, समष्टि को स्वयं से जोड़कर व्यष्टि तक सीमित कर दिया।**

सद्‌गुरु-कृपा से **'मैं'** यह भी जानता हूँ कि व्यष्टि रूप में **'मैं'** ही इस सम्पूर्ण समष्टि का आधार हूँ। यदि हममें से एक व्यक्ति को भी एक मिनिट के लिए झपकी आ जाए, तो उस एक मिनिट में उसके लिए न यहाँ अन्य 1199 लोग होंगे, न वक्ता रूप में मैं रहूँगा और वह स्वयं भी नहीं होगा। **हमारी एक मिनिट की झपकी में इतनी शक्ति है, कि वह एक व्यष्टि सहित समस्त समष्टि का संहार कर सकती है।** इसी एक मिनिट में यदि उसे कोई स्वप्न आ जाए, तो वह उसी मिनिट में नई सृष्टि का निर्माण कर, उसमें विचरण कर सकता है। इस प्रकार यदि हम क्षण भर के लिए अपनी व्यक्तिगत देह रूप में व्यष्टि हटा दें, तो व्यष्टि सहित कुल समष्टि लीन हो जाती है। **व्यष्टि और समष्टि इस प्रकार एक दूसरे से गुँथी-मुथी हैं। सम्पूर्ण समष्टि मात्र आपके लिए है और आप उसकी उपेक्षा कर देते हैं।** अरे ! पूरा महाब्रह्माण्ड आपके लिए बनाया गया है। एक दिन जो बनाया है, वह मात्र आपके लिए ही बनाया गया है। युग-युगान्तार आपके लिए बने हैं। आपकी इस नाम-रूप की अवचेतना (Consciousness) में इतनी शक्ति है, कि आपकी समस्त समष्टि इस पर आधारित है। इस व्यष्टि को जब हम समष्टि से काट देते हैं, तो स्वाभाविक रूप से हम अहं से युक्त होकर मलिन हो जाते हैं, विक्षिप्त व आवृत्त होकर ईश्वर-विमुख हो जाते हैं और दुःखों व कष्टों से घिर जाते हैं।

हम सब कुछ न कुछ सोचते रहते हैं और भ्रम में रहते हैं, कि हम सोच रहे हैं। जब हम यह सोचते हैं, कि हम सोचते हैं, तो हम अपने ईश्वरीय स्वरूप से विमुख **से** हो जाते हैं। यही विमुखता **सी** मल, विक्षेप बनकर हमें आवृत्त कर देती है। यह विमुखता **सी** इसलिए है क्योंकि वह ईश्वरीय चेतना हमसे कभी विमुख नहीं होती। ईश्वरीय सृष्टि में कुछ भी जड़ नहीं है, क्योंकि सच्चिदानंद की सृष्टि है। जहाँ हम चेतना से विमुख हुए तो उसे कहा है–**जड़ता।** हमारा कोई भी कृत्य व्यक्तिगत नहीं होता। सम्पूर्ण समष्टिगत चेतना के अनुकूलन पर ही कोई कृत्य होता हुआ दिखाई देता है। जो भी कार्य हम कर रहे हैं, वह एक व्यक्ति के रूप में कर ही नहीं

सकते। हम अपना हाथ तक व्यक्तिगत रूप से ऊपर नहीं उठा सकते, क्योंकि व्यष्टि रूप में अगली श्वास भी हमारे हाथ मे नहीं है। जो भी कार्य हम सबसे हो रहे हैं, वे समष्टि में हो रहे हैं। इसलिए जो भी मैं सोचता हूँ, वह सुचवाया जाता है और जो करता हूँ, वह करवाया जाता है। अज्ञानवश मैं सोचता हूँ, मैं कर रहा हूँ, तथा यह सब **मेरे कारण ही हो रहा है।** मैं अपनी **'मैं**' को अपने एक नाम-रूप की देह में ही सीमित कर देता हूँ।

अपने बलबूते पर मैं एक प्याला चाय तक नहीं पी सकता। जब मैं चाय पीता हूँ, तो क्या कभी सोचता हूँ, कि वह प्याला किसने मेरे लिए बनाया होगा। कहीं अवश्य प्याले बनाने की फैक्ट्री लगी होगी, कहीं विशेष मिट्टी आदि कच्चे माल की प्रौसेसिंग हुई होगी, फैक्ट्री में मशीनें तथा अनेक कार्यकर्ता होंगे। तब कहीं जाकर वह प्याला बना होगा। चाय में पानी चाहिए, चाय में दूध पड़ा है, तो किसी ने तो मेरे लिए गाय या भैंस पाली होगी। जो चीनी पड़ी है उसके लिए कहीं किसी ने गन्ने उगाए होंगे, फिर चीनी-मिल लगी होगी, ताकि एक चम्मच चीनी मुझ तक पहुँच सके। उन मिलों में लगी मशीनें कहाँ-कहाँ, किस-किस के द्वारा बनी होंगी। इसी प्रकार चायपत्ती के बाग लगे होंगे, मेरे एक टी बैग के लिए दार्जिलिंग, आसाम कहाँ-कहाँ कार्य हुआ होगा। फिर चाय गैस पर बनी, वह गैस, गैस का चूल्हा आदि। यानि हम यदि इस दिशा में सोचने लगें तो पाएँगे, कि **सम्पूर्ण कोटि-कोटि महाब्रह्माण्ड मात्र आपकी एक व्यष्टि के लिए व्यस्त हैं, कुछ आप जानते हैं और बहुत सा ऐसा है, जो आप नहीं जानते।** तब आप एक व्यक्ति कैसे हुए, एक व्यक्ति के रूप में तो अस्तित्व ही नहीं है। **ईश्वर ने आपको इतना सम्मान दिया है कि आपकी एक झपकी समस्त समष्टि का संहार कर सकती है।**

हमारी आँखें सम्पूर्ण जगत को देखती हैं, लेकिन स्वयं को नहीं देख पातीं। आँखें जो देखती हैं जो जगत वास्तव में है, दोनों में कोई ताल-मेल नहीं है। **हमारी आँखें जगत में वह देखती हैं, जो देखना चाहती हैं और जगत वह है, जो है। हमें आश्वस्त हो जाना चाहिए, कि हम अपनी आँखों**

से जगत को जैसा देखते हैं, जगत वैसा नहीं है। यदि आँखों ने स्वयं को देखा होता, तो ये जगत को देख पातीं। जो खुद को देख लेता है, वह किसी को भी देख सकता है। जिसने स्वयं को नहीं देखा, वह किसी को क्या देखेगा ! हम अपनी सन्तान के लिए वर या वधू देखते हैं लड़का-लड़की भी एक दूसरे को देख कर विवाह के लिए स्वीकृति देते हैं। हमने यदि स्वयं को नहीं देखा, तो वहाँ भी वही देखेंगे, जो देखना चाहेंगे और भ्रमित रूप में ही स्वीकृति या इंकार करेंगे। दोनों ही भ्रम होंगे और इसका परिणाम भी भ्रम ही होगा।

इसी **भ्रम** में **ब्रह्म** आच्छादित हो जाता है। **ब्रह्म** और **भ्रम** एक साथ नहीं हो सकते। जहाँ ब्रह्म होगा, वहाँ भ्रम नहीं हो सकता और यदि भ्रम होगा, तो ब्रह्म निश्चित रूप से आवृत्त होगा। जो नेत्र देखते हैं वह भ्रम है, जो जगत है वह भी भ्रम है, स्वप्नवत् है। **एक भ्रम दूसरे भ्रम को देखता है, तो महाभ्रम हो जाता है। हम इस महाभ्रम में ही जी रहे हैं।** देखने वाला भ्रमित है और भ्रम को ही देख रहा है। आँखें भ्रमित हैं और जगत भ्रम है। एक शराबी दूसरे शराबी को जाँच रहा है। आँखों ने स्वयं को नहीं देखा इसलिए भ्रमित हैं इसीलिए **जगत को शास्त्रकारों ने बाँझ की औलाद कहा है। हम सब स्वयं को सबसे अधिक बुद्धिमान समझते हैं। अधिकतर अपनी अक्ल और दूसरे का धन सबको ज्यादा लगता है।**

जब **'मैं'** स्वयं को देखूँगा तभी बाहर कुछ देखूँगा। **स्वयं को देखने के लिए आँखें बन्द करनी पड़ेंगी। उसके लिए अन्तर्दृष्टि चाहिए। मैं क्या हूँ, कैसा हूँ, किस स्थिति में हूँ, यह जानने के लिए अन्तर्चक्षु चाहिएँ।** जब मुझे अपनी देह नज़र आ जाएगी, तो मुझे वहीं सारा जगत नज़र आ जाएगा। इन आँखों को खोलने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। आँखें खुली सी होंगी, जैसे समाधिस्थ शंकर की आँखें अर्द्ध-खुली होती हैं।

प्रत्येक दिन मात्र मेरे लिए है, क्योंकि एक ही दिन प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग होता है और प्रत्येक दिन प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग होता है। **प्रत्येक दिन की मेरी देह अलग होती है। इतना**

सूक्ष्म सा रूपान्तरण होता है जिस पर कोई ध्यान ही नहीं देता। हम भ्रमित हुए, भ्रम को देखते हैं और महा भ्रमित से जीवन व्यतीत करते रहते हैं। एक ही व्यक्ति से कभी मित्रता हो जाती है, वही कभी शत्रु बन जाता है। किसी वस्तु को पाना चाहते हैं, लेकिन पाने के बाद और भी दुःखी हो जाते हैं। कभी बाँछें खिलती हैं, कभी आँखें रोती हैं। कभी मुँह उतर जाता है, कभी चढ़ जाता है। क्योंकि एक भ्रमित दूसरे भ्रम को देख रहा है। यही हमारा जीवन है।

मैं यदि एक दिन के रहस्य को आत्मसात् करने का प्रयत्न करूँ, कि "हे प्रभु आज का दिन तूने मात्र मेरे लिए दिया है।" मेरा अर्थात् मैं देह के रूप में जो भी हूँ। हमें आश्वस्त होना चाहिए कि **'मैं'** का प्रयोग हम **'व्यष्टि मैं'** के लिए करते हैं या **'समष्टि मैं'** के लिए करते हैं। उसमें हमारा भ्रम दूर हो जाएगा। हम भ्रमित वहाँ होते हैं, जहाँ हम व्यष्टि को समष्टि में प्रयुक्त करते हैं और समष्टि को व्यष्टि में। **'मैं'** समष्टि है, यदि मैं कहता हूँ, कि 'मैं शिवकुमार हूँ' इसका अर्थ है, मैं भ्रमित हूँ। सब अपने साथ **'मैं'** लगाते हैं। **इसलिए 'मैं' मेरी विराटता और मेरी समष्टि की द्योतक है।** यदि मैं शिवकुमार के रूप में उस समष्टिगत **'मैं'** का प्रतिनिधित्व नहीं करता, तो मुझे 'मैं शिव कुमार हूँ' कहने का अधिकार नहीं है। **क्या 'मैं' जीवात्मा का Perfect प्रतिनिधि हूँ? मैंने स्वयं को देह के साथ जोड़कर अपनी 'मैं' को संकीर्णतम् कर दिया। मेरा जगत भी वैसा ही बना, जैसा 'मैं' नाम-रूप की सृष्टि में था। देह पर आधारित जगत को मैंने अपना जगत मान लिया।**

जगत दो हैं—एक मेरी नाम-रूप की देह की व्यक्तिगत **'मैं'** पर आधारित है और दूसरा **विशुद्ध जीवात्मा** अर्थात् समष्टिगत **'मैं'** पर आधारित जगत है। **मैं'** समष्टिगत रूपों में नाम-रूप की एक देह में ही समस्त समष्टि का आधार हूँ। इस **'मैं'** पर आधारित जगत में मेरा और इस समष्टि जगत का आधार **'तू'** है। इस सबका आधार मेरी देह है, जो यथार्थ है। वह जन्म-मृत्यु में बँधी काल्पनिक देह नहीं है। यह पंच-महाभूतों की देह

जब **'तू'** अर्थात् परमात्मा से जुड़ जाएगी, तो यही यथार्थ हो जाएगी और पूरी समष्टि, जीवात्मा व जीवत्व का प्रतिनिधित्व करेगी। एक तो मैं अपनी एक नाम-रूप की देह को अपना स्वरूप मानकर जगत देखता हूँ और एक वह जगत है, जो समष्टि **'मैं'** पर आधारित है। समष्टि **'मैं'** जीवात्मा है। यदि मैं किसी स्वप्न से जागने के बाद अपना स्वप्न सुनाता हूँ, तो अपनी एक नाम-रूप की देह शिवकुमार को **'मैं'** मानकर स्वप्न सुनाता हूँ, जबकि मैं अपने में पूर्ण आश्वस्त हूँ, कि मैं वह स्वप्न वाला शिवकुमार नहीं हूँ। स्वप्न में शेष जो अन्य लोग व वस्तुएँ आदि थीं, वह सब क्या था? वस्तुतः वह सब एक ही **'मैं'** का विभिन्न नामों व रूपों में प्राकट्य था। मैं एक देह को **'मैं'** इसलिए मानता हूँ, क्योंकि मैं अभी भी एक स्वप्न में हूँ। एक स्वप्न से रूपान्तरित हो दूसरे स्वप्न में आ गया हूँ। मैंने अपनी एक देह को अपना स्वरूप मान लिया और मैं भ्रमित हो गया।

ईश्वरीय सत्ता एक में अनेक है और अनेकों में एक ही है। हमारी देह एक है और उस एक देह में विभिन्न अंग हैं। एक चेहरे को ही लें, उसमें आँखें, कान, नाक, त्वचा, जिह्वा पाँच मुख्य ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जिनकी विशिष्ट पृथक्-पृथक् कार्यप्रणालियाँ, कार्य एवं विशेषताएँ हैं, जबकि प्राण-शक्ति एक ही है। नाक, मुँह से एक इंच ऊपर है, लेकिन नाक का कार्य सूँघना है, वह स्वाद नहीं दे सकती। जो प्राण-शक्ति नाक में सूँघने का कार्य करती है, वही जिह्वा में स्वाद का हेतु बनती है। ईश्वर का यह एक सूत्र सम्पूर्ण मायिक जगत में कार्य करता है। एक परिवार है उसमें जितने सदस्य हैं, उन सबके विचार, भाव तथा कार्य करने की शैली व चाहतें पृथक्-पृथक् हैं। एक ही घर में उनके रहने के स्थान अलग-अलग हैं। सब अपनी रहने की जगह से एक रस हुए होते हैं, दूसरे के कमरे में निश्चिन्तता अनुभव नहीं करते, घर एक ही है। एक ही दिन, एक ही परिवार के विभिन्न सदस्यों के लिए भी पृथक्-पृथक् है। सद्गुरु के श्रीमुख से निःसृत एक ही शब्दावली समस्त श्रोताओं के लिए उनकी मानसिकता के अनुसार पृथक्-पृथक् अर्थ लिए होती है। **अतः एक ही सद्गुरु की देह में सबका सद्गुरु पृथक् होता है।** सद्गुरु के लिए

विभिन्न विधाएँ लिए विभिन्न देहों में **'श्रोता'** एक ही होता है। भगवान श्रीकृष्ण की सोलह हज़ार एक सौ आठ पत्नियाँ थीं, जो उनकी एक ही पत्नी की विभिन्न विधाओं के रूप में प्रकटीकरण था। वह इतना विस्तृत पति है, कि उस पति को एक स्त्री देह समेट ही नहीं सकती। इसी प्रकार द्रौपदी का स्त्रीत्व व पत्नीत्व इतना विस्तृत था, कि उसे एक पुरुष देह समेट ही नहीं सकती। इसलिए उसके लिए पाँच पुरुष देह, पति रूप में प्रकट हुए, जो उसके एक ही पति की विभिन्न विधाएँ थीं।

सबके लिए एक ही प्रातः होती है, लेकिन सबके लिए उसकी महिमा पृथक्-पृथक् होती है। एक ही मौसम होता है लेकिन उसके बारे में सबके विचार अलग-अलग होते हैं। परिवार, समाज, देश व विश्व में एक ही घटना घटती है, लेकिन उसके बारे में सबकी प्रतिक्रिया पृथक्-पृथक् होती है। **एक ही आर्थिक स्तर के कुछ व्यक्ति ले लीजिए, उनके लिए उस धन-राशि की बरक़त अलग-अलग होती है। कोई उससे पूर्ण सन्तुष्ट होता है, कोई आंशिक संतुष्ट होता है, कोई पूर्णतः असंतुष्ट होता है, कोई आंशिक रूप से असन्तुष्ट होता है। कोई वेदना-ग्रसित रहता है कि मेरे पास तो कुछ नहीं है वगैरा-वगैरा।** परिवार में सब भाई-बहनों के माँ-बाप एक ही होते हैं, लेकिन उन माँ-बाप में सबके माँ-बाप अलग-अलग होते हैं। एक से उसकी माँ के बारे में पूछो तो कहता है, कि मेरी माँ की बात मत करो, मैं अपने पिता का फैन हूँ। दूसरा कहता है कि मैं माँ को बहुत चाहता हूँ, पिता से मेरे सम्बन्ध मात्र औपचारिक से हैं। इसी प्रकार **ईश्वर एक है, लेकिन उसके प्रति सबकी मान्यताएँ अलग-अलग हैं।** किसी की मान्य मान्यता है कि मैं ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता। किसी की अमान्य-मान्यता है कि मैं तो ईश्वर को मानता ही नहीं हूँ। ईश्वर है, तभी तो वह कह रहा है, मैं ईश्वर को नहीं मानता। इसे **अमान्य-मान्यता** कहते हैं। उसे सब मानते हैं, जो उसे नहीं मानते, उनकी अमान्य-मान्यता है। मान्य-मान्यता में भी कोई ईश्वर को शंकर के रूप में मानता है, कोई सालगराम रूप में मानता है, कोई दुर्गा रूप में आदि-आदि।

रंग एक ही है लेकिन उसके प्रति मेरा चुनाव पृथक्-पृथक् है। जैसे काला रंग है मैं अपने लिए उसे पसन्द नहीं करता, लेकिन अपने भाई के लिए मुझे वह अच्छा लगता है। जिसने जो पहना है, मुझे वह अच्छा लगता है, लेकिन मुझे अपने लिए कुछ विशेष पसन्द है। **अतः व्यष्टि में तथा समष्टि में मेरी मान्यताएँ पृथक्-पृथक् हैं।** बच्चों को हम उनके अनुसार वस्त्र पहनाते हैं, वे वस्त्र हम स्वयं नहीं पहनते। **यह व्यष्टि में समष्टि का प्रमाण है। हम सब अपनी समष्टि से बहुत अधिक सम्बद्ध होते हैं।** हम सब पृथक्-पृथक् हैं, लेकिन सब अपनी समष्टि से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जुड़े रहते हैं। **अपने बेटे-बेटियों के लिए हम जो कुछ भी चाहते हैं, वह अपने स्वयं के लिए चाहें, न चाहें। अतः मेरी व्यष्टि, मेरी समष्टि से पूर्णतः सम्बद्ध है।**

एक नाम, एक रूप के लिए सबकी पसन्द अलग-अलग होती है। मेरी एक देह के लिए मेरी ही पसन्द अलग-अलग है। प्रश्न उठता है कुछ वस्तुएँ तो हमारे हाथ में हैं जैसे कि मुझे ये वस्त्र पसन्द नहीं हैं और मैंने किसी को दे दिये, लेकिन हम देह का क्या करेंगे। **परमात्मा ने जैसा भी हमें रंग-रूप दिया है, जब हमने होश सम्भाला, वह देह हमने अपने साथ पाई। यदि हमें वह पसन्द नहीं आ रही तो हम क्या करें? इससे हम पीछा छुड़ा नहीं सकते।** कुछ लोग हर छः महीने बाद घर बदलते रहते हैं अथवा उसी घर में विभिन्न परिवर्तन कराते रहते हैं। पति-पत्नी एक दूसरे से तलाक ले लेते हैं। अपनी देह को हम कैसे बदल सकते हैं! कृत्रिम टीम-टीम कब तक रहेगी? उस एक परमात्मा ने मुझे एक देह दी है, जो मुझे पसन्द नहीं है। जितने हमारे मनोवैज्ञानिक तनाव, ईर्ष्या, द्वेष, वैर, स्पर्धाएँ व जलन आदि हैं, उनका मूल आधार हमारी अपनी एक नाम-रूप की देह है। **अपनी व्यष्टि तथा समष्टि के साथ हमारा बाह्य व्यवहार व क्रियाएँ तथा हमारा समस्त मनोविज्ञान इस पर निर्भर करता है, कि हम अपनी एक नाम-रूप की देह के साथ कितने सन्तुष्ट हैं।**

अध्यात्म एवं आत्म-ज्ञान आत्म-सन्तुष्ट लोगों के लिए है। हम जो हैं, हमें ईश्वर ने जो बनाया है, उसमें प्रसन्न हों, तभी अध्यात्म के द्वार पर दस्तक देने के अधिकारी होते हैं। **'मैं'** देह के रूप में स्वयं से कितना सन्तुष्ट हूँ। **'मैं'** जीवात्मा हूँ, जो समष्टि का प्रतिनिधित्व करता है और मुझे दी गई नाम-रूप की एक देह मेरी व्यष्टि की प्रतीक है। ईश्वर ने आपको जो बनाया है, आपका जो आर्थिक, सामाजिक, मानसिक स्तर व दृष्टिकोण है, उसमें आप संतुष्ट हों। **आपको लगता है कि आप अधिक बोलने वाले हैं। ठीक है थोड़ा स्वभाव पर नियन्त्रण करते रहिए, लेकिन आपमें हीन-भावना व अपराध-बोध न हो।** कई लोग चुप्पे होते हैं, बहुत कम बोलते हैं,वे अपनी जगह ठीक हैं। कभी-कभी देखा जाता है कि पत्नी अधिक बोलने वाली होती है, पति कम बोलता है। ये एक दूसरे के विपरीत नहीं हैं, परिपूरक हैं। **'मैं'** जीवात्मा देह के रूप में समस्त समष्टि का प्रतिनिधित्व करते हुए स्वयं से कितना सन्तुष्ट हूँ।

सद्गुरु-कृपा से यह आत्म-विश्लेषण करना ही आत्म-चिन्तन है और यही आत्म-ज्ञान है। हम सबसे अपना परिचय देने को कहें तो सब इस प्रकार परिचय देंगे—'मैं शिवकुमार हूँ, मैं पूजा हूँ, मैं दिनेश हूँ, मैं असलम हूँ, मैं बलवन्त सिंह हूँ आदि। सबने अपने साथ **'मैं'** लगाई। लेकिन भौतिक रूप से हमारी उम्र, लिंग, धर्म, चाल-ढाल, अक़्ल-शक्ल, प्रतिभाएँ, गुण-अवगुण, पद-प्रतिष्ठा, नाम-यश, शक्ति, ज्ञान-अज्ञान, आर्थिक, सामाजिक स्तर, आस-पड़ौस आदि पूर्णतः भिन्न हैं। भिन्नता कम हो या अधिक, लेकिन है। फिर भी सबने अपने साथ **'मैं'** लगाई। परिचय पूछने वाले ने कहा, भाई ! **'मैं'** को अलग रख दो और उसकी पृथक् एक पहचान कर दो। फिर अपना परिचय दो। तो हम सबने कहा— शिवकुमार भी मैं हूँ, पूजा भी मैं हूँ, दिनेश भी मैं हूँ, असलम भी मैं हूँ और बलवन्त सिंह भी मैं हूँ। अब साथ में **भी** आ गया। अब **'मैं'** से पूछो, कि आपका क्या विचार है तो **'मैं'** ने कहा—मैं शिवकुमार भी हूँ मैं पूजा भी हूँ, मैं दिनेश भी हूँ, मैं असलम भी हूँ, मैं बलवन्त सिंह भी हूँ। अब यहाँ परिचय में बहुत अन्तर आ गया, कि **'मैं'** एक है और

सब शिवकुमार, पूजा, दिनेश, असलम व बलवन्त सिंह आदि स्वयं में अनेकों में एक हैं। **'मैं'** सबके साथ अपना अधिकार रखती है और शेष सब स्वयं में पृथक्-पृथक् व्यष्टि का प्रतीक हैं। **'मैं'** समष्टि है। यदि कहा जाए, कि नाम-रूप को छोड़ो अपना संक्षिप्त परिचय दो, तो उत्तर मिलेगा कि मैं **'मैं'** हूँ।

मैं जो भीतर हूँ, वही बाहर देख रहा हूँ। लेकिन अपना भीतर जो मैं बाहर देख रहा हूँ, उसका रचनाकार तो मैं नहीं हूँ। भीतर जो कुछ भी अंकित है, वह मेरे द्वारा प्रस्तुत हो रहा है। पूछो, कि ये सब किसकी वजह से है? तो उत्तर मिलेगा, इसका कारण तो मैं नहीं हूँ। क्योंकि **'तू'** है तो **'मैं'** हूँ। समस्त दृश्य जहाँ से प्रस्तुत हुआ है, उसी से शिवकुमार, पूजा, दिनेश, असलम और बलवन्त सिंह सभी प्रकट हुए हैं। शिवकुमार के रूप में मेरी विशेषता यह है, कि उस स्वप्न सृष्टि में कोई आए, कोई जाए मेरा स्वप्न नहीं टूटता, लेकिन मैं शिवकुमार की देह के रूप में जैसे ही निकला, स्वप्न टूट गया। मैं जाग गया तथा वह समस्त प्रकरण मेरे द्वारा स्वप्न घोषित कर दिया गया। अर्थात् **जो स्वप्न वाला शिवकुमार है, वह पूरे स्वप्न में मैं भी है और पूरी स्वप्न-सृष्टि का आधार शिवकुमार की देह के रूप में वह ही है।** इसी प्रकार जीवात्मा को परमात्मा ने एक नाम-रूप की देह दी। परमात्मा की सारी सृष्टि में वह **'भी'** थी और उसका आधार वह **'ही'** थी और वह भी नहीं थी। उसकी कुछ क्षणों की झपकी समस्त सृष्टि समेत उस देह को भी लय कर देती है। **जीवात्मा एक है और एक नाम-रूप की देह के रूप में जीव भी एक ही है। उस एक देह के साथ अध्यास के भ्रम के कारण जीवात्मा को ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं यह देह ही हूँ।** उससे कोई अपराध नहीं हुआ, क्योंकि समस्त सृष्टि का आधार वह देह ही तो थी, जो उसे मिली थी। लेकिन वह उसकी देह नहीं थी। क्योंकि जब देह के लिए भ्रूणावस्था वाला D.V.Dot अंकित हुआ, उसमें मेरे साथ जुड़ी हुई असंख्य देहें थीं, जिनमें मुझे दी गई एक देह भी थी, जो अनेकों में एक थी। **लेकिन उस एक देह की चमत्कारिक बात यह थी, कि अनेकों का आधार वह एक देह ही थी, जो स्वयं में भी नहीं थी।** अरे ! स्वप्न वाला शिवकुमार कहाँ है? जब मैं जाग

गया तो असंख्य नाम-रूपों की सृष्टि, उन सब नाम-रूपों के साथ मुझे दी गई, स्वप्न की शिवकुमार की देह के साथ ही समाप्त हो गई।

हम भ्रम में वहाँ पड़ते हैं, जहाँ हम स्वयं की **'मैं'** को व्यष्टि मान लेते हैं। उसका समष्टिगत, **एक में अनेक** और **अनेकों में एक** व्यष्टि स्वरूप उपेक्षित कर देते हैं। **वहाँ यह सारा मायिक इन्द्रजाल विभिन्न कर्म-बन्धनों में भटका कर कभी पापी, कभी पुण्यी, कभी सुखी, कभी दुःखी बनाता हुआ जन्म-जन्मान्तरों में भटकाता रहता है।** हम अर्धसत्य में जीते हैं, हमें भ्रम है, कि इस सम्पूर्ण जगत में **'मैं'** भी हूँ (एक व्यष्टि या नाम-रूप)। यह व्यष्टि **'मैं',** मेरी समष्टिगत **'मैं'** में है। हम भ्रमित हैं, कि मैं एक नाम-रूप की देह ही हूँ। सब दुःखी-सुखी हो रहे हैं, इसलिए मैं भी सुखी-दुःखी हो रहा हूँ। दूसरों को देखकर कहते हैं, कि वह चोर है, वह पापी है, मैं तो ऐसा नहीं हूँ। यह भूल जाता हूँ, कि सब पापियों, चोरों, डाकुओं व पुलिस आदि का आधार तो मेरी समष्टिगत **'मैं'** ही है। मुझे सपना आया, कि एक चोर मेरे गले से चेन खींच कर ले गया। मैं पुलिस को बुलाने भागा, तो मुझे पत्थर से ठोकर लगी और मेरी नींद खुल गई। सपने का चोर कौन था और उसने क्या चोरी की? चेन तो अभी भी गले में पहनी हुई है। **हम जहाँ 'मैं' को व्यष्टि मान लेते हैं, वहाँ सारा इन्द्रजाल हमारे गले पड़ जाता है। 'मैं' का समष्टिगत रूप जो सम्पूर्ण सृष्टि का आधार था,** उसे उपेक्षित कर देते हैं। सृष्टि में कोई चोर है, पुलिस है, अफसर है, नौकर है, उस सबका आधार एक जीव है, जिसका अस्तित्व **'मैं'** जीवात्मा है। वह **'मैं'** ही हट जाए, तो कौन चोर, कौन पुलिस!

स्वप्न की बात छोड़ो, इस तथाकथित जागृति की सृष्टि में एक बस में एक जेबकतरा चढ़ा। एक की जेब काटी, उसी की जेब क्यों काटी, उसने क्या पाप किया था? तथाकथित कर्मों के धर्मराज कहेंगे, कि उसने किसी से नाजायज़ धन कमाया होगा। फिर जेबकतरे को तो इनाम मिलना चाहिए, कि उसने किसी का काला धन साफ कर दिया। कर्मों के विषय में शास्त्र ने भी समर्पण कर दिया—***'कर्मणाम् अगाधो गति'*** सब पाप-पुण्य अर्धसत्य में

हैं। **'मैं' का देह रूप में जो निर्माण हुआ है, उसमें वह भी है और उसका समष्टिगत रूप वह ही है। मुझे देह के रूप में भ्रम हुआ, कि यह देह भी मैं हूँ और जीवात्मा की दृष्टि से मुझे भ्रम हुआ, कि यह देह ही मैं हूँ। देह के रूप में 'मैं' उस समस्त सृष्टि का आधार था और जीवात्मा-रूप में वह 'मैं' समस्त सृष्टि का अस्तित्व था। देह 'मैं' और जीवात्मा 'मैं' दोनों ही अपनी-अपनी दृष्टि से भ्रमित हैं।** देह, इस भ्रम के कारण काल्पनिक देह हो गई और **'मैं'** जीवात्मा भ्रम के कारण एक तुच्छ जीव बन गया, जबकि सारे ब्रह्माण्ड में एक ही जीवात्मा विभिन्न रूपों में सर्वव्यापक तत्त्व था।

सच्चिदानंद ईश्वर निराकार है और जीवात्मा उसी का अंश है, वह भी निराकार है। यह जगत विभिन्न रूपों में साकार है, जिसका आधार जीवात्मा को दी गई एक नाम-रूप की देह है, जो मायिक है। **'तू' (ईश्वर) निराकार है, 'मैं' (जीवात्मा) निराकार है और यह जगत साकार है। यह जगत माया है, मात्र प्रतीति है। 'मैं' और 'तू' की क्रीड़ा है, खेल है। 'तू' (ईश्वर) खिला रहा है और 'मैं' (जीवात्मा) खेल रहा है। खेलने के लिए कम से कम दो का होना अनिवार्य है।** खेल के लिए नाम-रूपों में यह जगत एक से अनेक बना है। मैंने एक नाम-रूप की देह के साथ स्वयं को पहचाना, कि 'मैं शिवकुमार हूँ'। **'मैं'** जो सर्वव्यापक थी, उसने शिवकुमार को अपना स्वरूप मान लिया तो **'मैं'** अपनी पहचान खो बैठी। **'मैं'** सर्वव्यापकता भूलकर शिवकुमार नाम-रूप की एक देह में सीमित हो गई। नाम-रूप की समस्त सृष्टि का अस्तित्व **'मैं'** है। इस **'मैं'** का अस्तित्व **'तू'** यानि परमात्मा है।

मैं उदाहरण दूँगा। मैं शिवकुमार सो रहा हूँ और एक स्वप्न देख रहा हूँ। वह स्वप्न मेरे भीतर ही चल रहा है, लेकिन मुझे प्रतीति होती है, कि मैं स्वप्न में देश-विदेश कहाँ-कहाँ घूम आया। कई वर्षों का समय मैंने विभिन्न लोगों के साथ सुख-दुःखपूर्ण स्थितियों में बिताया। उस सम्पूर्ण सृष्टि में शिवकुमार के रूप में मेरी एक देह भी होती है और उस समस्त सृष्टि का आधार वह स्वप्न वाली देह ही होती है। मैं जागकर जब स्वप्न का वर्णन

करता हूँ, तो उस स्वप्न वाली देह को **'मैं'** मानकर और उसे सम्बोधित करके सुनाता हूँ, कि मैं वहाँ गया, ये-ये लोग मुझे मिले आदि-आदि। जबकि मैं कहीं आया-गया नहीं। **'मैं'** वो स्वप्न वाला शिवकुमार ही नहीं हूँ। क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं जिस बिस्तर पर सोया था, उसी से उठा हूँ। तो एक निराकार मानस से साकार स्वप्न-सृष्टि प्रकट हुई, जिसमें एक देह शिवकुमार की भी थी और उस समस्त सृष्टि का आधार वह देह ही थी। **'मैं'** को भ्रम हो गया कि मैं शिवकुमार हूँ। यदि **'मैं'** शिवकुमार है, तो उस स्वप्न-सृष्टि में जो नाम-रूप की अन्य देहें थीं, वे कौन हैं। **'मैं'** निराकार है और शिवकुमार साकार है, जो नाम-रूप में उस समस्त सृष्टि का आधार है। **'मैं' नाम-रूप की दृष्टि से उस समस्त स्वप्न-सृष्टि का आधार मैं शिवकुमार 'व्यष्टि' है** और **'मैं'** की दृष्टि से उस समस्त साकार सृष्टि का अस्तित्व **'मैं'** शिवकुमार **'समष्टि'** है। **'मै'** निराकार न होता तो साकार शिवकुमार भी प्रकट न होता। **'मैं' का अस्तित्व 'तू' है। 'मैं' निराकार मानस है। उसी से पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि पंच-तत्त्वों में सम्पूर्ण मायिक सृष्टि प्रकट होती है। 'मैं'** को भ्रम हो गया, कि 'मैं शिवकुमार हूँ' और शिवकुमार को देह के रूप में भ्रम हो गया, कि शिवकुमार **'मैं'** हूँ। उसने उस सम्पूर्ण सृष्टि में स्वयं को अलग से पहचान लिया। **'मैं'** नाम-रूप में समस्त नामरूपात्मक जगत का आधार है और जीवात्मा रूप में **'मैं'** वह निराकार मानस है, जो इस समस्त सृष्टि का अस्तित्व है, जहाँ से यह समस्त स्वप्न प्रकट हुआ है। **इस मायिक जगत के गहनतम रहस्य निद्रा में छिपे हैं, जहाँ मुझे नाम-रूप की देह की प्रतीति नहीं होती।** उसी निद्रा में जब मैं स्वप्न देखता हूँ, तो वह स्वप्न-सृष्टि लगभग इस तथाकथित जागृति वाली सृष्टि जैसी ही प्रतीत होती है। उस स्वप्न-सृष्टि से मैं जागकर ही उसे स्वप्न घोषित करता हूँ। स्वप्न देखते समय तो वह स्वप्न नहीं होती। इस स्वप्न में एक नाम-रूप की देह के रूप में **'मैं'** भी होता हूँ और उसका आधार मैं ही होता हूँ। वह स्वप्न, स्वप्न ही था, लेकिन उस स्वप्न से जागृति तथाकथित ही है, क्योंकि एक स्वप्न से मैं दूसरे स्वप्न में आ जाता हूँ। इस

प्रकार नाम-रूप की देह और जीवात्मा **'मैं'** दोनों ही भ्रमित हो गए। **दोनों ने एक दूसरे से स्वयं को पहचाना और अस्तित्व 'मैं'(जीवात्मा) अपना अस्तित्व खो बैठा तथा नाम-रूप की देह 'मैं' अपना आधार खो बैठी। नाम-रूप की देह के रूप में मैं सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड का आधार हूँ। क्योंकि यदि मैं ज़रा सी झपकी ले लूँ तो समस्त सृष्टि लीन हो जाती है।** ***''आप मरे जग प्रलय।''*** सुषुप्ति में जगत कहाँ रहता है, क्योंकि मैं नाम-रूप की देह ही नहीं रहता। मेरे नाम-रूप की Consciousness के आधार पर ही सारा जगत खड़ा हुआ है। व्यष्टि रूप में **'मैं'** सम्पूर्ण समष्टि का आधार हूँ और समष्टि रूप में **'मैं'** सम्पूर्ण समष्टि का अस्तित्व हूँ। When you come into the existence as body, you immediately become the base of yourself and total totality. जब तक मैं शिवकुमार हूँ, मैं सम्पूर्ण समष्टि का आधार हूँ। जब शिवकुमार नहीं रहूँगा, तो सृष्टि का लय हो जाएगा। **'मैं'** चेतना (Awareness है और शिवकुमार अवचेतना (Consciousness) है। **मेरी चेतना अस्तित्व है और अवचेतना आधार है।** जब मैं अपने बारे में Conscious होता हूँ, तो वह अवचेतना है, तो मैं सारे जगत से स्वयं को पृथक् मान लेता हूँ, स्वयं को नाम-रूप की एक देह मानकर ईर्ष्या-द्वेष, वैर-वैमनस्य आदि में फँस जाता हूँ। जबकि मैं देह-रूप में सम्पूर्ण सृष्टि का आधार हूँ।

'मैं' निराकार मानस है, जो उस सृष्टि का अस्तित्व है। इस समस्त सृष्टि का कारण **'तू'** यानि परमात्मा है। प्रत्येक प्रकाट्य उसकी इच्छा से होगा और मेरे द्वारा होगा। जीवात्मा परमात्मा का अंश है। ईश्वर की भाँति सच्चिदानंद होते हुए भी स्वयं में अशक्त एवं असमर्थ है। उसके द्वारा और उसके लिए रची जाने वाली सृष्टि का न तो वह कारण है और न कर्ता है। **जीवात्मा के जरिए परमात्मा ही साकार में खेलता है।** जीवात्मा को एक नाम-रूप की देह दी जाती है, जो उस समस्त सृष्टि का आधार है। यदि मेरे स्वप्न की दूसरी देह कहती है, कि मैं आधार हूँ तो वह भी ठीक है। लेकिन वह मेरे स्वप्न की दूसरी देह है, जो मेरे स्वप्न का आधार नहीं है। यदि वह

स्वप्न से निकल जाए, तो मेरा स्वप्न नहीं टूटता। दोनों ठीक हैं, क्योंकि दोनों ही एक ही मानस से प्रकट हुए हैं। मेरे आधार पर सब कह रहे हैं। यह तथ्य प्रत्येक के लिए सत्य है। **इस प्रकार यह द्वैत जीवात्मा में ही निर्मित हुआ, एक खेल का आधार था (व्यष्टि रूप) और एक खेल का अस्तित्व था (समष्टि रूप)। हम सबकी निजता (व्यष्टि) समष्टि के साथ ही परिपूर्ण होती है। हम अपनी निजता (व्यष्टि) में सम्पूर्ण समष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं।**

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(15 से 26 जनवरी 2006)

परिवर्तन

जितनी भी माया में नाम-रूप की सृष्टि है, उसमें निरन्तर अदला-बदली अथवा कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। कुछ **परिवर्तन** हमें **हर्षित व उल्लसित** करते हैं, कुछ में हम **सम** रहते हैं तथा कुछ हमें **तनावित व दुःखी** कर देते हैं। जब तक हम उस परिवर्तन से उभरते हैं, तब तक दूसरा परिवर्तन आ जाता है। एक निर्धन व्यक्ति को थोड़ा धन मिला, वह हर्षित हो गया, पर **वह खुशी कुछ ही दिन रहती है, फिर वह और चाहने लगता है।** किसी को आर्थिक दृष्टि से नुकसान हो जाए, तो उसे अवसाद व तनाव हो जाता है, पर वह दुःख व तनाव हमेशा नहीं रहता। प्रारम्भ में ज्यादा होता है, फिर कम होता जाता है। कुछ खोने के बाद यदि पा लें, तो फिर खुशी हो जाती है। अब जुए में क्या होता है? जुआरी यदि जीतता है, तो और जीत जाऊँ की चाह बनी रहती है, यदि हारता है, तो उसकी भरपाई का इच्छुक रहता है।

मन-मस्तिष्क के स्वस्थ रहने के लिए परिवर्तन आवश्यक भी है। हमेशा एक जैसा मौसम रहे, तो भी जीवन नीरस हो जाता है। हमेशा रात ही रहे तो आप झुँझला जाएँगे। 24 घण्टे दिन ही दिन हो तो भी एकरसता में घबराहट सी हो जाती है। जीवन में हमेशा बचपन, जवानी अथवा एक ही अवस्था बनी रहे तो जीवन रसहीन व उबाऊ हो जाएगा। आकाश में बादल ही छाए रहें, तो भी अच्छा नहीं लगता। **एक परिवर्तन लाने का हम प्रयत्न करते हैं और एक परिवर्तन स्वतः होते हैं।** एक प्रकार की गृह-सज्जा से तंग आकर हम उसमें संशोधन, परिवर्तन व परिवर्द्धन करते हैं। हमारी अपनी

देह में स्वतः परिवर्तन होते रहते हैं। लेकिन **इन परिवर्तनों का दृष्टा, इन्हें मान्यता देने वाला नहीं बदलता।** जीवन के काल-चक्र की परिधि में परिवर्तन आते हैं, लेकिन केन्द्र नहीं घूमता, वह स्थिर है। **यदि वह दृष्टा बदल जाए, तो इन परिवर्तनों को प्रमाणित कौन करेगा?** कि जब मैं बच्चा था तो ऐसा था, बड़ा हुआ तो ऐसा हो गया आदि-आदि। **एक ऐसा मेरा स्थिर स्वरूप है, जिसने सभी अवस्थाएँ देखी हैं और जो स्वयं ज्यूं का त्यूं है।** हर परिवर्तन को हम सापेक्षिक आधार पर ही अच्छा या बुरा कहते हैं। वह जो स्वयं परिवर्तित नहीं होता और सारे परिवर्तन देखता है, यदि वह संयन्त्र बिगड़ जाए, तो हमारे लिए परिवर्तन निरर्थक व नकारात्मक हो जाएँ और परिवर्तन की चाह समाप्त हो जाए। वही परिवर्तन चाहता है। **परिवर्तन स्वयं में परिवर्तन नहीं चाहता। परिवर्तन 'मैं' चाहता हूँ। 'मैं' की एक स्थिर स्थिति है, जो हर परिवर्तन से प्रभावित होती है।**

उदाहरणतः हमने नया घर लिया, हमें महसूस हुआ कि पहले ही मैं अच्छा था, यहाँ मुझे पहले जैसा आनन्द नहीं आ रहा। पहले जब मैं उच्च पद पर नहीं था, बहुत स्वतन्त्र था, तब अपने लिए, परिवार के लिए समय मिल जाता था, अब बहुत व्यस्त रहता हूँ। **अतः किसी परिवर्तन ने परिवर्तन नहीं चाहा, बल्कि जो उसे देख रहा है, परिवर्तन उसकी चाह है। वही परिवर्तन द्वारा अनुकूल या प्रतिकूल रूप में प्रभावित होता है। साथ ही परिवर्तन उसके हाथ में भी नहीं है।** कुछ परिवर्तन स्थाई होते हैं, जो बदले नहीं जा सकते। कुछ बदले जा सकते हैं। जैसे विवाह जिससे हो गया या बच्चे जैसे भी हो गए, ये जीवन के स्थाई परिवर्तन हैं। कुछ परिवर्तन जैसे घर, कपड़े, गाड़ी आदि यदि नहीं पसन्द आते तो हम पुनः परिवर्तित कर सकते हैं।

एक शक्ति वह है, जिसके हाथ में परिवर्तन हैं। वह सत्ता परिवर्तनों के साथ खेलती है, वह **कारण** स्रष्टा है। दूसरा वह है जो परिवर्तनों से प्रभावित होता है, वह **दृष्टा** है तथा तीसरा स्वयं परिवर्तन है, जो बदलता रहता है, वह **दृश्य अथवा सृष्टि** है। **दृष्टा एवं दृश्य दोनों का कारण स्वयं ईश्वर है।**

हम साधारण मानव परिवर्तनों के पीछे भाग रहे हैं, यह हो जाए, यह न हो, इसे बदल दो आदि-आदि। इस प्रकार हम दृश्यों में परिवर्तन चाहते हैं और जो भी दृश्य हैं, उनका आनन्द नहीं ले पाते। उदाहरणतः किसी ने कोई नाटक लिखा या कहानी लिखी तो उसमें सभी नायक या नायिका तो नहीं हो सकते। इसमें अच्छे-बुरे सभी प्रकार के पात्र होंगे। कोई खलनायक होगा, कोई विदूषक होगा, कोई सहयोगी और कई अन्य गौण पात्र भी होंगे। विभिन्न पात्रों की विभिन्न भूमिकाएँ होंगी, लेकिन लिखने वाला एक ही है। उसने सब पात्रों की वेशभूषा, संवाद आदि सब रचा हुआ है, देश-काल सब निश्चित हैं। एक नाटक है और एक नाटक का दृष्टा है। दृष्टा कोई भूमिका नहीं कर रहा, वह मात्र दृष्टा है। सारे पात्र अपनी-अपनी भूमिकाएँ कर रहे हैं। कोई पात्र बार-बार एक ही बात दोहराने लगे तो दृष्टा के लिए नीरस हो जाएगा।

हमारा मन एक स्क्रीन या पर्दा है, जिस पर समस्त दृश्य प्रस्तुत हो रहा है और **'मैं'** (जीवात्मा), दृष्टा रूप में देख रहा हूँ, दिखाने वाला वह स्रष्टा परमात्मा है। जैसेकि रात को सपना आता है, तो सपना हमारे हाथ में नहीं होता। जैसा भी वह दिखा दे, हम देखते हैं। अतः जीवन का कोई परिवर्तन हमारे हाथ में नहीं है। जो कहता है मैंने परिवर्तन किया, वह बहुत बड़े भ्रम में है। परिवर्तन एक सत्ता के हाथ में है, जो प्रेरित करके करवाती है और हमारे लिए स्वतः होता है। हम विभिन्न देश-काल, परिस्थितियों में अपनी मानसिक स्थिति के अनुसार उसे अच्छा या बुरा कहते हैं। **वास्तव में मानस में जो परिवर्तन होता है, वही बाहर दृष्टिगत होता है। परिवर्तनकार ईश्वर है। उस समय हमारी मानसिक स्थिति यह निर्धारण करती है, कि परिवर्तन हमें कैसा लगा है !** हमारा मानस एक कोरा कागज़ या निराकार पर्दा है, जिस पर उन परिवर्तनों का प्रभाव आता रहता है। वह मानस भी ईश्वर के अधीन है। यदि सद्गुरु-कृपा से हम मानस को आनन्द की स्थिति में ले जाएँ, तो हर परिवर्तन हमें आनन्दित ही करेगा।

मानवीय मन अस्थिर, अशान्त व अशक्त है। जो शान्त, स्थिर होते हैं,

वे सशक्त होते हैं। उनके संकल्पों और क्रियाओं दोनों में शक्ति होती है। चाहे वह नकारात्मक हो या सकारात्मक हो। जो वे करते हैं, उसका निश्चित रूप में प्रभाव होता ही है। ईश्वरीय मानस शान्त, स्थिर व सशक्त है। हम मानव, ईश्वर द्वारा किए गए कृत्यों का आकलन अपने उस मानस से करते हैं जो स्वयं में अस्थिर, अशान्त व अशक्त है। हम अपने मन के भावों के अनुसार परिवर्तन को देखते हैं। मन अस्थिर, अशान्त होने के कारण परिवर्तन का आनन्द नहीं ले पाता। एक वस्तु आज अच्छी लगती है, कल वही वस्तु बुरी लगने लगती है। **परिवर्तन को हम आनन्दरहित करके देखते हैं, इसलिए भटकते हैं।** इस प्रकार हम अपना सारा जीवन गँवा देते हैं। यदि हर परिवर्तन को आनन्द से जोड़ दें, तो सब कुछ आनन्दमय हो जाता है।

नाटक या फिल्म देखने वाला यदि अशान्त हो तो बार-बार उठता रहता है, आलोचना करता रहता है। एक ही नौकरी है, जो एक व्यक्ति मस्ती से करता है, दूसरा यहाँ से वहाँ नौकरियाँ बदलता रहता है। इसी प्रकार हमारी आर्थिक स्थिति है। कुछ धन आ जाता है, तो हम खुश हो जाते हैं, पर वह खुशी अधिक दिन तक नहीं टिकती। फिर हम और चाहते हैं। आखिर हमारी खुशी की कसौटी क्या है? वास्तव में मैं चाहता क्या हूँ? **इच्छा पूरी न हो तो एक इच्छा बनी रहती है, यदि पूरी हो जाए तो अनेक इच्छाओं का रूप ले लेती है।** परिवर्तन होने पर कभी तो हम परिवर्तन नहीं चाहते, कभी कम या ज्यादा परिवर्तन चाहते हैं। इसी का नाम भटकन है। **जो स्थिर है, वही भटकन देख पाता है। जब परिवर्तन को हम ईश्वर रूप में आनन्द से सम्पृक्त कर देंगे तो प्रत्येक परिवर्तन हमें एक नाटक या कहानी की भाँति आनन्दित करेगा।** भटका हुआ, भयभीत व्यक्ति भोग नहीं कर सकता। योगी हर स्थिति का आनन्द लेता है और यदि चाहता है तो आनन्द **में** परिवर्तन चाहता है। उसका ईश्वरीय मन सुख-दुःख दोनों स्थितियों का आनन्द लेता है। संसारी व्यक्ति परिवर्तन आनन्द **के लिए** चाहते हैं, क्योंकि स्वयं अस्थिर होते हैं। जीवन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण

स्थिरता है। एक ही खूँटा स्थिर है, वह है—**ईश्वर।**

''सच्चिदानंदोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

वह टस से मस नहीं होता, कहीं आता-जाता नहीं। वह स्वयं में स्थिर व सशक्त है, **हर परिवर्तन उसकी क्रीड़ा है।** आँधी, तूफान, पतझड़, वसन्त, निर्माण, संहार सब उसका खेल है। मानवीय मन स्वयं में चंचल, अस्थिर, अशक्त है, वह हर परिवर्तन के साथ स्वयं भी हिल जाता है। परिवर्तन से स्थिर भी प्रभावित होता है, लेकिन वह उसे आनन्द में देखता है। **ईश्वरीय मानस में हर परिवर्तन का आनन्दमय प्रभाव होता है।** कष्ट व रोग कुछ भी आ जाए, वह हर स्थिति को ईश्वर की इच्छा से जोड़ देता है। **यदि हम स्वयं कुछ चाहते हैं और अपने अस्थिर, अशक्त मन से चाहते हैं, तो वह चाहत या इच्छा भी हमारी ही तरह अस्थिर होती है।** जो मानसिक रूप से तनावित है, वह एक मिनट में दस तरह की बातें करता है। **आत्म-चिन्तन में आपको शिला की तरह स्थिर होना होता है।** यदि मैं स्वयं को परिवर्तनों के कारण के साथ सम्पृक्त कर लूँ तो हर परिवर्तन मेरे लिए किसी नाटक के दृश्य के समान होगा। मैं स्थिर होकर उसका रसास्वादन करूँगा। हर परिवर्तन का कारण परमात्मा है, जो स्वयं में सच्चिदानंद है। तो परिवर्तन को मान्यता देने वाला, उससे प्रभावित होने वाला या उसे प्रमाणित करने वाला भी आनन्द से परिपूरित होना आवश्यक है। यहाँ आकर हम जीवन में मात खा जाते हैं। हम परिवर्तन चाहते हैं, तो हमारे विविध परिवर्तन ही परिवर्तन के कारण बनते रहते हैं, क्योंकि हमारा मन अस्थिर होता है। इसलिए हम किसी भी परिवर्तन को ईश्वर के साथ सम्पृक्त करके आनन्दमय नहीं कर पाते।

हम जीना इसलिए चाहते हैं, क्योंकि हम मरना नहीं चाहते। हम मरना तब चाहते हैं, जब हम जीना नहीं चाहते। जब हम आर्थिक, मानसिक, सामाजिक, शारीरिक, पारिवारिक रूप से अति दुःखी हो जाते हैं, तो हम जीना नहीं चाहते। हमारे जीने का लक्ष्य तो कोई है ही नहीं। जब जीवन का लक्ष्य **'सद्'** की चाहत हो जाएगी, तो जीवन इस प्रकार निरर्थक

व नकारात्मक नहीं बीतेगा। **जीवन के हर क्षण में यही चाहत होगी, कि हे प्रभु मुझे 'सद्' की अनुभूति हो जाए, फिर चाहे यह देह चली जाए। तब जीवन में आने वाला हर परिवर्तन उस 'सद्' की अनुभूति की ओर ले जाएगा।** जो सद् है, वही चेतन और आनन्द है। जब **'सद्'** की अनुभूति कर ली, तो हमारे लिए स्वयं ही इस मायिक प्रपंच का कोई अर्थ नहीं रहेगा, **तब जीवन को हमारी चाहत हो जाएगी। 'सद्'** की प्राप्ति के बाद जीवन-मरण का महात्म्य ही हमारे लिए नहीं रहेगा। बल्कि देह को हमारी महत्ता होगी। जब लक्ष्यविहीन जीवन यापन करेंगे तो देह ही हमसे घृणा करेगी। **जब हम भौतिक प्राप्तियों और भौतिक परिवर्तनों के लिए जीते हैं, तो वह लक्ष्यविहीन जीवन है। 'सद्'** की चाहत ही मानव-जीवन का लक्ष्य है और उसकी चाहत होने पर इस जीवन-लक्ष्य के **मार्ग में बाधक होने वाला कोई परिवर्तन हम नहीं चाहते।** जब तक हमें **'सद्**' की चाहत नहीं होगी, तब तक चाहतों का सिलसिला जन्म-दर-जन्म आसक्तियाँ बनकर भटकाता रहेगा, **'सद्'** की चाहत ही हमें स्थिर करेगी।

सद्' की चाहत होने पर हम स्वयं कोई परिवर्तन नहीं चाहते, फिर भी परिवर्तन होंगे, लेकिन स्वतः आनन्द में होंगे। जब हमें एक ही चाहत हो, कि मानव-जीवन का अर्थ अनुभव में आ जाए, तब अपने ईश्वरीय स्थिर, शान्त व सशक्त स्वरूप की चाहत हमें स्थिर कर देगी। जो स्थिर है, वह हर परिवर्तन में स्थिरता की खोज में रहता है। वह परिवर्तनों को अच्छा या बुरा प्रमाणित करके परिवर्तित नहीं करना चाहता, बल्कि उन्हीं को स्थिर व शान्त भाव से देखता है। **तब हर परिवर्तन उसके लिए खेल या लीला हो जाती है। हमारी एक ही स्थिर स्थिति है, वह है हमारा ईश्वर, हमारा अपना सच्चिदानंद स्वरूप।** उसमें जब हम सद्गुरु-कृपा से स्थिर हो जाएँगे तो प्रकृति में जितने परिवर्तन हो रहे हैं, उनका हम आनन्द लेंगे।

सम्पूर्ण वक्तव्य का सारांश यह है, कि **हम सबको जीवन में स्थिरता चाहिए।** स्थिरता की चाहत हम तब करेंगे, जब हमें अस्थिरता की भटकन और विक्षेप का ज्ञान होगा और इसका ज्ञान भी स्थिर होने पर होगा।

मानव-जीवन का एकमात्र उद्देश्य यही है, कि भटकन शान्त हो जाए। ईश्वर का नाम, ध्यान, मनन, चिन्तन, कीर्तन, सत्संग, सद्‌गुरु-सेवा, यज्ञ-हवन, जप-तप, स्वाध्याय आदि जीवन में नहीं होते हैं, तो जीव भटक-भटक कर मरता-जन्मता रहता है। **अपने स्थिर स्वरूप के साथ जुड़ाव परमावश्यक है। जीवन व देह में जितने भविष्य हैं, उनकी पूर्ति होने का सुख या न पूर्ति होने का दुःख अल्प काल तक ही रहता है। जीवन की हर स्थिति परिवर्तित होती है।** काल-चक्र में सुख-दुःख, मिलना-बिछुड़ना, प्राप्ति-खोना, लाभ-हानि साथ-साथ चलते हैं। **जीवन में ये होते रहेंगे। माया में परिवर्तन स्वाभाविक है। इनका आनन्द लेने के लिए, उस परिवर्तनकर्ता ईश्वर (जो स्वयं इस खेल की रचना व विध्वंस दोनों का आनन्द ले रहा है) के सम्मुख होकर बैठना अनिवार्य है।** उससे सम्पर्क न हो पाए, तो उसके लिए आर्तनाद करिए, रोइए और **जीवन इसी रुदनोत्सव में बीत जाए।** तब आपकी वृत्तियाँ आनन्दमय हो जाएँगी और जीवन का हर परिवर्तन आपको उल्लसित व आनन्दित रखेगा। सम्पूर्ण जीवन महा आनन्दमय महोत्सव बन जाएगा।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(17 जनवरी 2006)

ईश्वर-प्रदत्त कैरियर

जितना भी दृश्यमान जगत है, जिसे हम अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अधिगृहीत कर सकते हैं, वह समस्त जगत मायिक प्रपंच है। यह चराचर जगत पंच-महाभूतों के संगम से निर्मित तथा पालित होता है एवं अन्ततः पाँचों महाभूतों में विलीन हो जाता है। पंच-महाभूत ईश्वर के सीधे प्रतिनिधि हैं और हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच-महाभूतों की प्रतिनिधि हैं, ये भी प्रपंच हैं। यह जगत स्वयं में है नहीं, लेकिन आभासित होता है। इन पंच-महाभूतों के संगम, निर्माण, पालन और संहार के नेपथ्य में शिव की निहित शक्ति **'अदृश्य वैराग'** है। पंच-महाभूतों से निर्मित सर्वोत्कृष्ट रचना मानव-देह है, जिसकी उपलब्धि स्वयं में महासौभाग्य एवं परम ईश्वरीय-कृपा का द्योतक है। **मानव-देह धारण करना और मानव जैसा जीवन जीना, दोनों पृथक्-पृथक् बातें हैं।** इनका परस्पर कोई तालमेल नहीं है।

मानव जैसा जीवन जीने के लिए मानव-देह होना आवश्यक है, लेकिन मानव-देह हो और मानव जैसा जीवन भी हो, यह आवश्यक नहीं है। प्रश्न उठता है, कि मानव-जीवन का प्रारम्भ कहाँ से होता है और उसके लक्षण क्या हैं? मानव-देह धारण करके **जब हम जीवन के लिए जीते हैं और जीवन के लिए ही मरते हैं, तो हम मात्र मानव-देह धारी ही हैं।** उन्हीं में 84 लाख पशु योनियाँ हैं। देह से मानव होकर भी वृत्तियों की प्रमुखता के आधार पर हम पशुवत् जीते-मरते रहते हैं। पशुवत् जीवन जीने वालों में कैरियर बनाने वाले लोग भी आ जाते हैं। समाज में प्रतिष्ठा, मान-सम्मान,

यश, उच्च पद आदि भी जीवन के लिए अर्जित किया जाता है। **ये समस्त कैरियर बच्चों के लिए अभिभावकों द्वारा थोपे हुए होते हैं, और इनके द्वारा मानव-देह धारियों की भौतिक वृत्तियों का ही पोषण होता है।** इस प्रकार तरह-तरह के कैरियरों के पोषण में लगा जीव **'जीवन के लिए'** ही जीता है। कोई नौकरी अथवा कोई व्यवसाय आदि कुछ भी करके वृद्धावस्था में अशक्त व शिथिल होकर इन्हीं आसक्तियों को लेकर मरता है। जीवन-काल में उसकी देह, बुद्धि, समय, शक्तियाँ आदि सब परिवार के लिए धन कमाने में ही झोंक दी जाती हैं।

हम अपना विश्लेषण स्वयं करें, **यदि अपनी सन्तान के विषय में मात्र यही सोच रहे हैं, कि वे भौतिक रूप से सम्पन्न जीवन जी सकें तो हम अपनी सन्तान पर कोई भी कैरियर थोप ही रहे हैं।** चाहे वे उसके योग्य हों या न हों। हम उन्हें विभिन्न कैरियर आधारित शिक्षण-संस्थानों में दाखिला व डिग्री दिलाने के लिए और नौकरियाँ दिलाने के लिए लाखों रुपयों की रिश्वत भी देने को तैयार रहते हैं। इस प्रकार हम निरर्थक तनावित, विक्षिप्त, रुग्ण, भयभीत व नकारात्मक जीवन बिताकर मर जाते हैं। ऐसे कैरियर के प्रति सचेत लोग विभिन्न प्रश्नों में उलझे रहते हैं। चाहे इन्जीनियरिंग में हों, मैडिकल में हों, कॉमर्स में हों या चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट हों अथवा प्रशासन में हों, वे उन प्रश्नों से भरे होते हैं, जो उनकी बुद्धि की उपज होते हैं और उनका उत्तर भी बुद्धि द्वारा ही दिया जाता है। वे स्वयं भ्रमित होते हैं तथा उनका सारा जगत भी भ्रमपूर्ण होता है। Illusion, और Hallucination में घिरे रहते हैं। **उनकी उन्नति-अवनति दोनों ही भ्रम होते हैं।** Their questions are the product of human intellect variably or invariably. Answers may be diversified but they are seeking illusion in illusion and halucination in halucination. They are already illusioned, which enhance and aggravate by getting so called proper answers given by the human intellect. वे नश्वर से नश्वर के लिए भागते हैं और मानव-देह व्यर्थ गँवा देते हैं। फिर जन्म लेते हैं और यह

जन्म-जन्मान्तरों का सिलसिला चलता रहता है।

यह आवागमन तब समाप्त होता है, जब मानव-देह में मानव-जीवन का प्रारम्भ होता है। **जब यह विचार कौंधने लगे, कि जीवन काहे के लिए है।** ईश्वर ने मुझे गधा, घोड़ा, साँप या नाली का कीड़ा आदि न बनाकर मानव-देह दी है, तो इसका विशेष कारण अवश्य होगा ! यह प्रश्न नहीं है, यह जिज्ञासा है, कि मुझे मानव-देह क्यों मिली है? मानव-देह प्राप्त करके मैं इसका उपयोग जीवन के लिए कर रहा हूँ अथवा **जीवन काहे के लिए है**, इस दिशा में इस उत्कृष्ट देह का सदुपयोग कर रहा हूँ। **ये जिज्ञासाएँ मानवीय बुद्धि की उपज नहीं हैं। ये रूह व आत्मा से उठती हैं, जिनका उत्तर तीव्रतम बुद्धि से भी दिया ही नहीं जा सकता।** मानवीय बुद्धि सीमित है, इससे उठने वाले प्रश्नों की श्रृंखला होती है—कि आपका नाम क्या है? कहाँ पैदा हुए? पिता-माता का नाम क्या है? किस देश व शहर में कब पैदा हुए? इनका उत्तर बुद्धि से ही दिया जा सकता है।

नाम-रूप की उपाधि में आकर हम असीम चेतन को अवचेतना में ले आए तो ईश्वरीय चेतना युक्त बुद्धि अति सीमित हो गई। इस अवचेतना में ही जन्म-मरण, लाभ-हानि, सुख-दु:ख, खोना-पाना, लेना-देना, शोक-हर्ष, उन्नति-अवनति, यश-अपयश, मान-अपमान आदि हैं। इस सीमित की सीमा यही है, कि इसमें इस दृश्यमान मायिक प्रपंच से सम्बन्धित प्रश्नों व उत्तरों की भरमार है। इन्हीं में जिज्ञासाएँ जुड़ जाती हैं, कि हम क्यों पैदा हुए, उन्हीं माँ-बाप से क्यों पैदा हुए? उसी स्थान पर और उसी ग्रह-नक्षत्र में क्यों पैदा हुए? यही कैरियर हमने क्यों चुना? आदि-आदि। ये भी प्रश्न लगते हैं, लेकिन ये सब जिज्ञासाएँ हैं, कि हमारे पैदा होने का अर्थ क्या है ? यहाँ पर हर प्रश्न जिज्ञासा का महास्वरूप धारण कर लेता है। न तो ये प्रश्न हैं और न इनके कोई उत्तर हैं। क्या मैं इसलिए पैदा हुआ हूँ कि मैं पनवाड़ी की दुकान करूँ या कपड़ा बेचूँ, बैंक में नौकरी करूँ या रात-दिन मरीज़ देखता रहूँ, आदि-आदि। यदि मैं यह सब न करूँ, तो क्या मेरे बिना

ये कार्य नहीं होंगे? आपकी रूह व आत्मा से आवाज़ आएगी कि ये सब कैरियर तुमने स्वयं अपने ऊपर थोपे हुए हैं या तुम पर थोपे गए हैं। **आपका जन्म जीवन के लिए किए जाने वाले इन सब कृत्यों के लिए नहीं हुआ है।** पशु भी अपने ऊपर इस प्रकार के किसी कैरियर का बोझ नहीं लादता। जंगल में हाथी क्या कारोबार करता है? सबकी देखभाल व हर प्रकार से अनुकूलन एवं पालन-पोषण माँ प्रकृति ही करती है।

जिज्ञासाओं को कोई अनुभूतिगम्य तत्त्वदर्शी, तत्त्वज्ञ महात्मा ही शान्त कर सकता है। जिज्ञासा अनुभूति से ही शान्त होती है और यह शान्ति हमेशा के लिए चेतना में समाहित हो जाती है। वह न तो Variable होती है न Invariable होती है, न ही Diversified होती है, वह युगों-युगान्तरों तक **'सद्'** रहती है। **जिज्ञासा एक अग्नि है।** यह अग्नि मानवीय अवचेतनामयी बुद्धि और उसके समस्त प्रश्नों व उत्तरों को निगल जाती है। जिज्ञासा रूप चेतना, अवचेतन जगत से सम्बन्धित किन्हीं प्रश्नों और उत्तरों को महत्त्व नहीं देती, जब जिज्ञासा की अग्नि भड़कती है, तो उसकी शान्ति के लिए आप सब कुछ दाँव पर लगा देते हैं। उसे मात्र सद्गुरु की अनुभूति की महाअग्नि ही शान्त करती है। **वहाँ से मानव-देह में मानव-जीवन प्रारम्भ होता है। अतः मानव-जीवन स्वयं में ईश्वर-प्रदत्त कैरियर है, परन्तु अति-अति ईश्वरीय-कृपा से ही मानव-देहधारी इस ओर प्रवृत्त होता है।**

जब मानव-देह में विशेष ईश्वरीय-कृपा से यह प्रचण्ड अग्नि भड़कती है, कि मैं पैदा क्यों हुआ, मैं कौन हूँ, मैं कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, मेरी चेतन सत्ता का अर्थ क्या है और मुझे मानव-देह क्यों मिली आदि जिज्ञासाएँ जब उस मानव-देहधारी को व्याकुल करके अपना सब कुछ दाँव पर लगाने पर विवश कर देती हैं, तभी इस कैरियर की ओर वह जिज्ञासु प्रवृत्त होता है। जन्मों-जन्मान्तरों में हम इस देह से, देह के लिए, बिना देह के मालिक से परामर्श किए प्रोग्राम बनाते रहते हैं। इस देह के किसी कार्यक्रम का हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। जो इस देह का निर्माता, पालनकर्ता व संहारकर्ता है,

क्या कभी हमने उससे पूछा है, कि क्या मैं इस देह को अपने सुखों के लिए उपयोग कर लूँ? कुछ तो हमारी सज़ाएँ कम हो जाएँगी। **हम तो इतने अहंपूरित हैं, कि जिसने हमें यह देह दी है, उससे पूछा भी नहीं और इस देह से देह के लिए ही प्रोग्राम बना लिये।** अगले क्षण हमारी देह क्या रूप दिखाएगी, हमें मालूम नहीं है, अगली श्वास भी हमारे हाथ में नहीं है। इसलिए यदि कोई हमारी योजना क्रियान्वित हो जाती है, तो अपनी डींग मारने के बजाए उसका धन्यवाद करें, गुणगान करें, कि प्रभु ! बड़ी कृपा की, कि आपने सारे प्रबन्ध सुनियोजित ढंग से किए।

हम कष्टों में घिरे हैं, क्योंकि कष्टों को हम निमन्त्रण देते हैं। This is the outcome of imposed carrier for life. ईश्वर-प्रदत्त एक ही कैरियर है, कि मानव-देह काहे के लिए मिली है, यह जीवन काहे के लिए है? क्योंकि यहाँ जो कुछ भी भौतिक रूप से पा लिया है, वह कभी न कभी अवश्य खो जाएगा, यदि नहीं खोएगा तो मैं उसे छोड़कर इस दुनिया से चला जाऊँगा। तो मैं यहाँ दुनिया में आकर, मानव-देह पाकर क्या कर रहा हूँ? **जो मैं कर रहा हूँ, क्या वह मेरे बिना नहीं हो सकता? यदि वह मेरे बिना भी हो सकता है, तो मैं इतनी चमत्कारिक और विलक्षण मानव-देह और जीवन-काल को उन कृत्यों में क्यों बरबाद कर रहा हूँ? मैं विचार कर सकता हूँ, साधना कर सकता हूँ, प्रकृति का बाध कर सकता हूँ।** तो मैं केवल पेट के लिए इस मानव-देह व जीवन का दुरुपयोग क्यों कर रहा हूँ? क्या कभी हमने किसी जानवर को पेट के लिए चिन्तित देखा है? हाथी का पेट कितना बड़ा है ! लेकिन फिर भी अपने अगले दिन के खाने के विषय में वह नहीं सोचता। समुद्र में व्हेल मछली का आकार इतना बड़ा है कि एक जहाज़ को पलट सकती है, ईश्वर ने उसके लिए भी प्रबन्ध किया है। और भी इतने जलचर, थलचर व नभचर हैं, सबके खाने-पीने, प्रजनन आदि की व्यवस्था माँ प्रकृति करती है। तो क्या ईश्वर का मानव से कोई विशेष दुराग्रह होगा कि अपने खाने-पीने, रहने-सहने और सब प्रकार की व्यवस्थाएँ उसे स्वयं करनी पड़ें!

हम मानव अपने जीवन-स्तर व प्रतिष्ठा के लिए चिन्तित रहते हैं, क्योंकि अभी हमने स्वयं को मात्र एक देह माना हुआ है। हमारी प्रतिष्ठा व अधिकार क्या और कितने हैं, इसका हमें ज्ञान नहीं है। हम अपनी तुच्छ सी बुद्धि से अपनी कितनी प्रतिष्ठा बना सकते हैं ! हमने कैरियर भी यह बनाया, कि समाज में नाम हो, बहुत से लोग हमें जानें। हम बड़े डॉक्टर, इन्जीनियर, सी. ए., एक्टर या कुछ भी बन जाएँ तो दुनिया में नाम हो जाए। जब सद्‌गुरु-कृपा से हम मानव-देह में मानव-जीवन जीने की इच्छा रूपी इस **ईश्वर-प्रदत्त कैरियर से जुड़ जाते हैं, विश्व में जहाँ भी हम जाते हैं तो वहाँ हमारे इष्ट की ही सरकार होती है। हमारी गरिमा के अनुरूप दैवीय संस्थान प्रबन्ध करते हैं। हमारी प्रतिष्ठा व गरिमा का प्रबन्धन और उन्नति दैवीय सरकार करती है।** कोई हमसे छल-कपट नहीं कर सकता, यदि करता है तो वह भुगतता है। क्योंकि दैवीय अदालत में वह बख़्शा नहीं जाता। हम सरकारी (ईश्वरीय) कैरियर से जुड़ कर पूर्णरूपेण ईश्वर के निजी और प्यारे हो जाते हैं। **हम कहीं भी, किसी भौतिक स्तर का जीवन जी रहे हों, उस ईश्वर-प्रदत्त कैरियर में जीवन के अन्तिम श्वास के बाद अगला जन्म अनेक परिवर्द्धन, संशोधन, रियायतों और अनेक दैवीय अनुग्रह मिलने के साथ होता है।**

जीवन के लिए देह में जितने कैरियर हैं, वे देह के जाने के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। चाहे हम उच्चतम पद पर हों, रिटायर तो होंगे ही, कुछ भी डिग्रियाँ, पद पा लें अगले जन्म में पुनः क ख ग पढ़नी पड़ती है। चाहे हमने मैडिकल कॉलिज के प्रधानाचार्य होकर देह त्यागी हो, अगले जन्म में हो सकता है, उस कॉलिज में लाखों रुपये की रिश्वत देकर भी हमें दाखिला न मिले ! लेकिन मानव-देह में जब हम मानव-जीवन जीना प्रारम्भ करते हैं, स्वयं को जानने की जिज्ञासा की अग्नि जब हममें भड़क जाती है, तो **जहाँ जिस स्थिति में हम देह त्यागेंगे, अगले जन्म में वही स्तर संशोधित और परिवर्द्धित रूप में प्राप्त होगा। गुरुनानक देव जी बचपन से ही फ़क़ीर और उदारचित्त थे। 'तेरा-तेरा' कह कर सारी**

दुकान उन्होंने बाँट दी थी। वे जन्मजात सिद्ध थे।

एक ही माँ-बाप के चार बच्चों में जो बच्चा अपने साथ वह प्रतिष्ठा व रुतबा लेकर आता है, वह बचपन से ही सबका सम्मान पाता है। उस बच्चे से माँ-बाप भी बात करने में सावधानी बरतते हैं। यह दिव्य जीवन है। ऐसे लोगों को जो भी पुरुस्कार या सज़ाएँ मिलती हैं, वे सब दैवीय होती हैं। **यदि आपका वास्तव में मानव-देह में मानव-जीवन शुरू हो गया है, फिर चाहे आप जंगल में, वीराने में कहीं भी बैठ जाएँ, आपका सम्पूर्ण प्रबन्ध दैवीय ही होता है। फिर आपको अपनी और जो आपके साथ श्रद्धा से जुड़े हुए हैं, उनकी चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं होती।** आपको कोई संकल्प-विकल्प भी करने की आवश्यकता नहीं होती। जो वस्तु आपको चाहिए वह स्वतःउपलब्ध होगी ही और जो नहीं चाहिए, वह हटा दी जाएगी। क्योंकि Divinity एक सुरक्षा कवच बनकर आपके साथ रहती है।

संसारी लोग आपकी क्या सेवा कर सकते हैं, जो करते भी हैं, वो अपने किसी स्वार्थ के लिए करते हैं। मानव-जीवन को कैरियर रूप में **लक्ष्य रखने पर चाहे आपको कोई जाने या न जाने, सम्पूर्ण दिव्यता व भगव त्ता आपके साथ रहती है।** दुनिया में आकर होश सम्भालते ही जो भी कैरियर हम अपनाते हैं, अधिकतर वह कैरियर इस ईश्वरीय कैरियर में बैरियर बन जाता है। लेकिन कभी-कभी वही कैरियर मानव-जीवन के इस दिव्य कैरियर में सहायक भी हो जाता है। मैं यहाँ स्वयं अपना उदाहरण देना चाहूँगा। चिकित्सा के क्षेत्र में अति प्रतिष्ठित डिग्री प्राप्त करने और तथाकथित कैरियर बनने के बाद ईश्वर ने मुझे 26 वर्ष की आयु में उत्तरकाशी पहुँचा दिया। यही कैरियर मुझे संतों के पास लेकर गया और यह कैरियर ही सब बैरियर हटाने में सहायक हुआ। संत किसी को अपनी उँगली सहज में ही नहीं पकड़ाता, क्योंकि वह छुपकर रहता है, वह शाहों का शाह है, उसे किसी से क्या लेना है ! लेकिन इस चिकित्सा के कैरियर के कारण संतों के पास मेरा आना-जाना हुआ और उन्होंने मेरी जिज्ञासाएँ

शान्त कीं। संतों से सद् की बात करने के लिए आपका जिज्ञासु होना परमावश्यक है। **संत जिज्ञासा की अग्नि को भाँप जाता है, क्योंकि सद्गुरु ज्ञान नहीं देता, बल्कि आपके ही आच्छादित ज्ञान को जाग्रत कर देता है।** किसी संत का अनुसरण करने के लिए जिज्ञासा की अग्नि का महा तीव्रतम होना परमावश्यक है। संत मिल जाए तो और क्या चाहिए ! **संत के मिलने के बाद भी यदि कोई पागल नहीं हुआ तो वह पागल ही होगा। इस ईश्वर-प्रदत्त कैरियर की अपनी गरिमा है, यह स्वयं में बहुत बड़ी उपलब्धि है, परन्तु यह समस्त प्रकरण कृपा-साध्य है।**

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(21 अप्रैल, 2006)

मानवीय बुद्धि की सार्थकता

हमारे जीवन की कोई भी घटना हमारी सोच से नहीं होती। लेकिन मानव को पशुओं से पृथक् विलक्षणतम बुद्धि मिली है। उसी बुद्धि से यदि हम सोचें, तो पाएँगे कि हमारे जीवन में आज तक जो कुछ भी हुआ है, वह हमारी बुद्धि की सोच का परिणाम नहीं है। तो फिर इतनी विशेष बुद्धि हमें ईश्वर ने क्यों दी होगी? मानव में बुद्धि ईश्वरीय चेतना की प्रतीक है और मन ईश्वरीय आनन्द का स्रोत है। मन और बुद्धि के पारस्परिक सम्बन्धों का बाह्य प्रकटीकरण मानव द्वारा होने वाले कृत्यों में होता है। यदि मन आनन्दित है और बुद्धि ईश्वरीय चेतना है, तो दोनों के पारस्परिक समन्वय से होने वाले कृत्य **'सद्'** ही होंगे।

मानव में बुद्धि सच्चिदानंद ईश्वर की **'चेतना'** है। जो कुछ भी हम सोचते हैं, वस्तुतः हमसे सुचवाया जाता है। उत्कृष्टतम और तीव्रतम बुद्धि से यदि हम यह मान लेते हैं, कि हम सोचते हैं और निर्णय लेते हैं, तो यह बहुत बड़ी भूल है। **बुद्धि या सोच, मानव-मस्तिष्क का उत्पाद नहीं है। जैसेकि फोटो, कैमरे का उत्पाद नहीं है।** कैमरा एक उपकरण है वहाँ कोई व्यक्ति, दृश्य या वस्तु चाहिए, जिसकी वह फोटो ले। जैसा कैमरा होगा, वैसी ही फोटो आएगी। बेकार कैमरा होगा तो फोटो बेकार आएगी। **ईश्वर की हर सोच, हर प्रेरणा अत्यधिक सुन्दर है। उसे हमारी अपनी बुद्धि रूपी कैमरा बेकार कर देता है। हमारी अपनी सोच तो है ही नहीं। ईश्वर-प्रदत्त उस सुन्दर सोच के प्रस्तुतिकरण के लिए बहुत ही खूबसूरत बुद्धि रूपी उपकरण चाहिए।** मानव-मस्तिष्क उस सोच को किस रूप में प्रस्तुत कर

रहा है? यदि हमारी बुद्धि विकृत है, नज़रिया व नज़र विकृत है, तो हम नज़ारे को भी वैसा बना देंगे। बुद्धि मूलतः ईश्वरीय चेतना है। यदि यह ईश्वर के सम्मुख नहीं होगी तो सोच ऊतपटांग हो जाएगी। उसकी अपनी इन सोचों का ईश्वरीय सोचों से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। बैठे-बैठे कोई 20 साल पुरानी बेकार की नकारात्मक सोचें न केवल व्यक्ति को व्यथित करती हैं, बल्कि उनके आस-पास के लोग भी उनसे परेशान रहते हैं। कइयों की बुद्धि नकारात्मक दिशा में ही सोचती है और वे उन बातों का सविस्तार वर्णन भी करना चाहते हैं।

जो ईश्वरीय सोच है, उसका अपना सौन्दर्य है, उसका क्रियान्वयन सहज व स्वतः होता है। मानवीय बुद्धि जैसी होगी, उसने उस सोच को वैसा ही बना देना है। **चेतन और आनन्द के यथावत् प्रकाट्य के लिए आपके मन-बुद्धि के उपकरण पूर्णतः ईश्वर-समर्पित हों, यह परमावश्यक है।** मन-बुद्धि ईश्वरीय प्रेम से सराबोर हों, आपको कोई रंच मात्र भी अपना अहं न हो, तो वे ईश्वरीय **'सद्'** को ही प्रकट करेंगे। वस्तुतः देह के सान्निध्य में आते ही चेतनता (Awareness) अवचेतनता (Consciousness) बन जाती है। **'मैं'** जीवात्मा स्वयं में चेतन है, सच्चिदानंद ईश्वर का अंश है। मैं अमुक-अमुक हूँ, यह भाव आते ही चेतना नाम-रूप की देह की अवचेतना में बदल जाती है। नाम-रूप की उपाधि में आते ही अवचेतना, उस चेतना का प्रयोग अपने ढंग से करती है। जैसे ही मैं निद्रा से जागता हूँ, तो पहले अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना में आता हूँ, तभी मेरा जगत भी बनता है। यदि मैं अपने नाम-रूप की Consciousness में नहीं हूँ, तो मेरे लिए कोई जगत भी नहीं होता। बचपन की अबोधावस्था में किसी के पिता या माता का देहान्त हो जाए, तो उसे कोई दुःख नहीं होता, क्योंकि उसे अपनी देह का ज्ञान नहीं होता, कि 'मैं अमुक हूँ'।

मेरे नाम-रूप की अवचेतना है और बुद्धि ईश्वरीय चेतनता है। अवचेतना, चेतना का प्रयोग कर ही नहीं सकती। ***'कहाँ राजा भोज कहाँ गंगू तेली।'*** जीवात्मा की **'मैं'** जब नाम-रूप की देह के साथ तद्रूप हो

गई, तो वह उस देह में जैसी थी, उतनी ही बुद्धि हो गई और वह ईश्वरीय चेतना से विलग हो कर अवचेतना में सारा कार्य करने लगी। **यदि जीवात्मा की 'मैं' अपने स्वरूप में आकर अपना सर्वव्यापी विस्तार पा ले, तो उसकी बुद्धि दिव्य हो जाएगी।** अवचेतना में चेतना का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। इस बुद्धि में चेतनता दिव्य है, ईश्वरीय है और उसका प्रयोग नाम-रूप की उपाधि की अवचेतना करती है। इसीलिए हमारे द्वारा होने वाले समस्त कृत्य ईश्वर-विमुखता में होते हैं।

उस परम समर्थ चेतनता को सम्भालने के लिए आपको पूर्णतः असमर्थ होना पड़ेगा, कि ''प्रभु ! मैं यह नहीं सम्भाल सकता, तुम्हारे द्वारा प्रेषित प्रेरणाओं को ग्रहण करके उनका क्रियान्वयन करना मेरे वश की बात नहीं है। इसलिए हे प्रभु ! अपनी बल, बुद्धि, विद्या, अपनी सामर्थ्य, अपनी शक्ति तथा अपने तन-मन-धन से मेरा जीवन चलाओ। क्योंकि करवा सब कुछ तू रहा है। उसमें यदि मैं अपनी बुद्धि लगा दूँगा, तो मैं तेरे कृत्यों को अस्त-व्यस्त कर दूँगा।'' यह बुद्धि ईश्वरीय चेतना ही थी, मन ईश्वर का आनन्द था, लेकिन देह के साथ तद्‌रूप होते ही जीवात्मा, **'जीव'** बन गया। ईश्वरीय आनन्द का स्रोत मन, मानवीय मन बन गया और इसका आनन्द-स्वरूप आच्छादित हो गया तथा बुद्धि जड़ हो गई। नाम-रूप की उपाधि में आकर यदि देह की अहं-बुद्धि का **Surrender** (**समर्पण**) नहीं होगा, तो वहाँ **Blunder** होंगे और जीवन **बवण्डरों** में घिर जाएगा। फिर कर्म **'सद्'** हो ही नहीं सकते। जो **'मैंने'** किया वह **Blunder** ही होगा। ईश्वर तभी करवाएगा जब **अहं भाव** का **Surrender** हो जाएगा।

जब तक हम होश नहीं सम्भालते तब तक हमारे लिए सब कुछ होता है और जब हम होश गँवा देते हैं तब भी हमारे लिए सब कुछ होता है। होश के अन्तराल में भी सब कुछ स्वयं हो रहा है, परन्तु अज्ञानवश हम समझते हैं कि हम कर रहे हैं। **वास्तव में हमें होश मात्र इसलिए मिली थी कि हम अपनी होश में देखें, कि सब कुछ हो रहा है। उसकी वाह-वाह करें, क्योंकि होश न होने के कारण पहले हम उसकी प्रशंसा नहीं कर पाए थे और होश**

गँवाने के बाद भी नहीं कर पाएँगे। लेकिन महादुर्भाग्यवश होश सम्भालते ही जो हो रहा था, उसके लिए हमें भ्रम हो गया कि 'मैं कर रहा हूँ'। जबकि सब कुछ हमारे द्वारा करवाया जा रहा था और बहुत कुछ हमारे लिए स्वतः हो रहा था।

होश में आने पर यह देखने के लिए कि सब कुछ हो रहा है, इस होश और बल, बुद्धि, विद्या का समर्पण करना पड़ता है, कि प्रभु यह तुम्हारी है। **यदि समर्पण नहीं करेंगे तो यह बुद्धि कहेगी कि मैं कर रहा हूँ।** जब होश नहीं सम्भाला था तो जो कुछ भी हो रहा था हमने उसका आनन्द नहीं लिया और जब होश गँवा देंगे तब जो सब कुछ हमारे लिए होगा, उसका आनन्द नहीं ले पाएँगे। अतः प्रभु ने हमें बीच में पशुओं से पृथक् विलक्षणतम बुद्धि दी, ताकि होश में देखें कि सब कुछ हो रहा है। उसका आनन्द लें और उस स्रष्टा की प्रशंसा करें। लेकिन होश सम्भालते ही हम अपने द्वारा होने वाले कृत्यों के ठेकेदार बन जाते हैं, कि मैंने ऐसा सोचा और फिर करके दिखाया तथा भविष्य में भी मैं इसी प्रकार करके दिखाऊँगा। **जैसेकि सृष्टि-कर्ता हमारे होश सम्भालने की प्रतीक्षा में हो कि इसे होश आए तो सृष्टि में कुछ कार्य हों।** लेकिन बुद्धि होश आने पर यह मानने को तैयार ही नहीं होती कि सब कुछ हो रहा है। यही लगता है मैंने ही योजना बनाई, मैंने सोचा, तभी यह सब हुआ। यह भाव आते ही सब कुछ विश्रंखलित हो जाता है। It was not only misuse of intellect but it was disuse of intellect होश इसलिए मिली थी, कि तुझे मैंने मानव-देह व उत्कृष्टतम बुद्धि दी है, तू देख कि सब कुछ हो रहा है। तू कुछ नहीं कर रहा है, जो तू कर रहा है, वास्तव में वह मैं ही करवा रहा हूँ।

मुर्दा कुछ कर नहीं सकता और शिशु जो करता है, उसके कर्म का कोई महात्म्य नहीं होता। होश सम्भालने पर यह देखना कि सब कुछ हो रहा है, इस मानवीय कर्म का फल भगवान देते हैं। होश उसने दी है, होश आपकी नहीं है। **मानव को पशुओं से पृथक् विशिष्ट बुद्धि केवल इसलिए दी है, कि वह देखे कि उसके हाथों से ईश्वर वह करवा रहा है, जो उसके**

हाथों में नहीं है और ईश्वर की प्रशंसा करे। यही होश सम्भालने पर मानव का कर्म है और मानवीय बुद्धि की इसी में सार्थकता है। सुचवा भी ईश्वर रहा है, करवा भी ईश्वर रहा है। मेरी व्यक्तिगत सोच और ईश्वरीय सोच में बहुत अन्तर है। जब मैं सोच पर अपना अधिकार कर लेता हूँ, तो वह सोच आते ही मुझे तनावित कर देती है, उसमें संकल्प-विकल्प होते हैं। उस सोच में आनन्द नहीं आता। **मुझे सोचने का केवल यह अधिकार है, कि जो मुझसे करवाया जा रहा है, उसके पीछे कर्ता केवल ईश्वर है। क्योंकि मुझे सोच मिलने से पहले भी सृष्टि में सब कुछ हो रहा था और मेरे बाद भी सब कुछ होता रहेगा। मध्य में भी हो रहा है, होश आने पर मैं स्पष्ट देख लूँ, कि सब कुछ हो रहा है।** सोच मिल जाने पर हम हस्तक्षेप न करें, यह कैसे हो? इसके लिए एक ही उपाय है, कि होश का समर्पण कर दें। प्रभु यह सब मैं नहीं कर रहा हूँ, यह आप कर रहे हैं। बुद्धि से ही सोचें और सोचें कि हमारे हाथ में कुछ नहीं है। अतः जो कृत्य हो रहे हैं, उनका हम आनन्द लें।

मानव ने सोच मिलने पर एक तो ईश्वर द्वारा होने वाले कृत्यों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया, दूसरे उसके द्वारा होने वाले कृत्यों को अपने नाम करना आरम्भ कर दिया। इसीलिए समस्त मायिक इन्द्रजाल व प्रपंच इसके गले पड़ गया। प्रारब्ध, शुभ-अशुभ कर्मबन्धनों का सिलसिला कभी समाप्त होने पर ही नहीं आया। जन्म दर जन्म, युगों-युगान्तरों से यह भटक रहा है। जबकि सुचवा भी ईश्वर रहा था और करवा भी वही रहा है।

जो हम कर रहे हैं वह करवा रहा है, जो हो गया वह होना ही था और जो आगे होगा, वह होगा। बुद्धि मिलने पर हम उस ईश्वरीय लीला की प्रशंसा करें, मानव को होश मात्र इसीलिए मिली थी। **'व्यष्टि-समष्टि'** प्रवचन में मैंने भ्रूण रूप में ईश्वरीय D.V. Dot की चर्चा की है। जब भ्रूण या बिन्दु रूप में गर्भ में मेरी देह के लिए गर्भाधान हुआ, उस बिन्दु में युगों-युगान्तरों में भूत, भविष्य व वर्तमान सहित जन्मों-जन्मान्तरों में मेरी समस्त देहों और उस पर आधारित जगत का अंकन था। वह जीवन्त बिन्दु

समस्त क्रियाओं को स्वयं में समेटे होता है, जिसके अनुसार संसार महानाट्यशाला के पर्दे पर चित्रांकन होता रहता है। जो ईश्वर करवा रहा है उसका हमारी सोच व बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं है।

Science is the product of human intellect, but Human intellect is product of what? वस्तुतः ईश्वर ने किसी को वैज्ञानिक बुद्धि इसलिए दी, कि उस वैज्ञानिक बुद्धि से ईश्वर ने कुछ विशेष खोज करवानी है, जिसका उसकी अपनी बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं है। उस देह से ईश्वर ने कुछ विशेष करवाना है। यदि किसी स्वप्न में कोई आविष्कार करे और आदमी से कबूतर बना दे, तो वह किसकी बुद्धि से किया होगा, वह तो सोया हुआ था। किसी भी स्वप्न की स्मृति देह की बुद्धि में नहीं होती क्योंकि स्वप्न की देह जागने पर समाप्त हो जाती है और स्वप्न सुनाने वाली देह ने वह स्वप्न देखा ही नहीं होता। लेकिन फिर भी स्वप्न की घटना किसी स्मृति से वह सुनाता है, यह स्मृति ईश्वरीय चेतना की है। जिसने स्वप्न देखा वह स्वप्न का दृष्टा था, जो निराकार था। ईश्वर-अंश विशुद्ध जीवात्मा था, स्वप्न वाली देह वह नहीं था। अब तथाकथित जागकर दूसरी सृष्टि में वही दृष्टा भ्रमित हुआ दूसरी देह के साथ तद्‌रूप होकर स्वयं को वही स्वप्न वाली देह मान रहा है। दृष्टा निराकार है और सृष्टि व दृश्य साकार है। **दृष्टा वही रहता है, लेकिन सृष्टि बदल जाती है। स्मृति दृष्टा की है, देह की नहीं है।** दृष्टा ने किसी दृश्य को नहीं रचा, दृष्टा के लिए हर दृश्य उस स्रष्टा परमात्मा द्वारा रचा जाता है।

हर दृश्य स्वयं में एक इकाई है, जिसका पहले वाले दृश्यों और आगे वाले दृश्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। दृष्टा जीवात्मा को उस साकार सृष्टि में स्वयं देह होने का भ्रम हो गया, कि स्वप्न-सृष्टि की देह और अब तथाकथित जागृति वाली सृष्टि की देह एक ही है। **दृष्टा, दृश्य नहीं है।** जीवात्मा को मायिक देह इसलिए मिली थी, ताकि वह स्रष्टा द्वारा रचाए जाने वाले विविध मायिक दृश्यों को देह का अवलम्बन लेकर देखे और उसकी वाह-वाह करे। लेकिन जीवात्मा उस माया के भ्रम से स्वयं भ्रमित हो

गया। देह के साथ अध्यास होने के कारण वह देह द्वारा होने वाले कृत्यों को अपने द्वारा किए जाने वाले कर्म मान बैठा। जिससे वह शुभ-अशुभ, व पाप-पुण्य के कर्म-बन्धनों में फँस गया। ईश्वर स्रष्टा है और जीवात्मा दृष्टा है। ईश्वर उसके लिए एक सृष्टि रचता है। सृष्टि के विविध दृश्य मायिक हैं, प्रपंच हैं, पंच-महाभूतों का समस्त खेल मात्र इन्द्रजाल है। इस प्रपंच को देखने के लिए प्रपंच की देह दी गई। **भ्रम को भ्रमित होकर देखने पर ही आनन्द आता है।** इस सम्पूर्ण मायिक प्रपंच को जीवात्मा दृष्टा रूप में देह का अवलम्बन लेकर भ्रमित होकर देखता है। फिर जीवात्मा यदि अपने विशुद्ध स्वरूप में आ जाता है, तो भ्रम-रहित होकर ही उसे ज्ञान होता है कि वह सब भ्रम था, माया थी, ईश्वर द्वारा रचाया गया एक खेल था। **जब हम नेत्रों से देखते हैं, तो हम भ्रम को भ्रमित होकर देखते हैं, फिर आँखें बन्द करके ध्यान में अपना विशुद्ध निराकार जीवात्मा स्वरूप देखते हैं, तो वह भ्रम हट जाता है। उसके बाद फिर आँखें खोलकर दूसरा दृश्य देखते हैं।**

अब आँखें मूँदते-मूँदते ध्यानस्थ होते-होते और फिर आँखें खोलकर दृश्यों का आनन्द लेते-लेते जीवात्मा तंग आ जाता है। इन दृश्यों का आकर्षण समाप्त हो जाता है। क्योंकि इष्ट-कृपा से उसे अपने दिव्य सच्चिदानंद स्वरूप का आभास हो जाता है। उसे पूर्णतः यह ज्ञान हो जाता है, कि मैं देह नहीं हूँ। **मैं निराकार हूँ और विभिन्न दृश्यों में सर्वव्यापी 'मैं' ही हूँ। जब मुझे वह स्रष्टा कोई दृश्य दिखाना चाहता है, तो एक नाम-रूप की देह देता है। मैं तनिक भ्रमित होकर उस देह की अवचेतना पर आधारित सृष्टि का आनन्द लेता हूँ। फिर देह समेत समस्त सृष्टि समाप्त हो जाती है। इसके बाद फिर दूसरी सृष्टि व दूसरी देह होती है। वह दृश्य देखकर मैं पुनः आँखें बन्द करके अपने स्वरूप में आ जाता हूँ।** जीवात्मा पहले तो इस मायिक इन्द्रजाल में भ्रम से स्वयं भ्रमित होता रहा। स्वयं को देह मानकर कि ये मेरी माँ है, मेरे बच्चे हैं, मेरा धर्म, मेरा कर्म, मेरा देश आदि पापों-पुण्यों तथा प्रारब्ध में फँसता रहा। फिर दूसरे सोपान पर सद्गुरु-कृपा से इसे अपने स्वरूप की अनुभूति हुई, तो इसने भ्रमित होकर इस भ्रमपूर्ण

मायाजाल का आनन्द लिया। फिर अपने स्वरूप में आ गया, न कुछ लेना न देना। **अन्ततः इससे भी तंग आ गया, क्योंकि उसे परमात्मा की चाह हो गई उसे जिज्ञासा हुई,** कि उसके लिए इतने सुन्दर दृश्यों को रचने वाला कितना सुन्दर होगा ! इन मिथ्या दृश्यों में जो बदलते रहते हैं, इतना आकर्षण है, तो इनका रचयिता, पालनकर्ता व संहारकर्ता स्वयं में कैसा होगा? उसने आर्तनाद की, प्रार्थना की, कि "प्रभु रोज़ इतनी चराचर सृष्टि मेरे लिए रचते हो, इतनी सूरतें दिखाते हो। इनमें मुझे तुम भी तो नज़र आ सकते हो। तुमने मुझे देह का बाना पहना दिया, क्या तुम मेरे लिए एक बाना नहीं पहन सकते? जन्मों-जन्मान्तरों में तुम मुझे क्या-क्या दिखा रहे हो और क्या-क्या बना रहे हो? तुमने खेल रचाया है, तो मुझे ही देह का बाना क्यों देते हो? अब मेरे लिए एक बाना तुम भी पहन लो, नहीं तो मेरा यह बाना भी हटा दो :–

एक तू न मिला सारी दुनिया मिले भी तो क्या है,
मेरा दिल न खिला सारी बगिया खिले भी तो क्या है?

मुझे प्रपंच की देह देते हो और मैं भ्रमित होकर भ्रम को देखता हूँ। इस भ्रम में मुझे तुम भी नज़र आ सकते हो। देह और देह पर आधारित जगत सब कुछ **'मैं'** हूँ, इसमें **'तू'** कहाँ है? यदि तू इसमें नहीं है, तो सारे दृश्य हटा। बहुत कुछ देख चुका हूँ, ऐसा ही कुछ और दिखाओगे तो क्या हो जाएगा? तो प्रभु तुम कहाँ हो? तू अनंत है, तेरी लीलाएँ अनन्त हैं, अब **मैं सिर्फ तुम्हें देखना चाहता हूँ।"** इस प्रपंच से अब जीवात्मा को वैराग हो जाता है और साकार भक्ति प्रारम्भ हो जाती है। जीवात्मा पुरुषार्थ के तीसरे सोपान **'काम'** पर पहुँच जाता है। उसे अपने इष्ट से मोह हो जाता है। यह मायिक प्रपंच, उस समय प्रपंच नहीं रहता, यह उसके इष्ट की लीला हो जाती है। हर शय में उसे अपना इष्ट ही नज़र आता है:–

"जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है,
हर इक शय में जलवा तेरा हू ब हू है।"

नर-नारायण दोनों देह धारण करके आ जाते हैं। जीवात्मा का

अस्तित्व परमात्मा ही है, चाहे जीवात्मा निराकार हो अथवा साकार देह में हो। **'तू' है तो 'मैं' हूँ, 'तू', 'तू' है 'मैं' 'मैं' हूँ। 'मैं' 'तू' नहीं हूँ, 'तू' 'मैं' नहीं है।** इस प्रकार पहले कई जन्मों तक तो इसी मायिक प्रपंच में जीवात्मा भ्रम से भ्रमित हो रहा था। बुद्धि का दुरुपयोग करते हुए स्वार्थवश स्वयं को देह मानते हुए भटक रहा था। फिर सद्गुरु-कृपा से अपने स्वरूप की अनुभूति होने पर कई जन्मों तक वह इस माया को क्षणिक भ्रमित हो कर देखता हुआ आनन्द लेता है। अन्ततः इससे भी उसे वैराग हो जाता है। **इसी मायिक प्रपंच से फिर भक्ति का उदय होता है और वह इष्ट की साकार उपासना का आनन्द लेता है। इसे दी जाने वाली साकार देह की पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उसी का दर्शन, उसी की लीला-चर्चा, उसका श्रवण, उसके चरणामृत तथा प्रसाद का स्वाद तथा उसकी गन्ध में मस्त रहता है और अन्ततः उसका अनुराग पाकर मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। मानव-देह धारण करके मानव को दी जाने वाली परम विलक्षण व उत्कृष्टतम् बुद्धि की सार्थकता इसी में है।**

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(29 – 30 अप्रैल 2006)

विष एवं शिव

शिव का प्रथम वर्ण **'श'** है, दूसरा **'व'** है। छोटी **'इ'** जो शक्ति का बीज है, वह **'श'** के साथ लगी है। **विष** का प्रथम वर्ण **'व' है, दूसरा 'ष'** है। छोटी **'इ' 'व'** के साथ लगी है। इस प्रकार **'शिव'** और **'विष'** दोनों में वर्ण समान होते हुए भी दोनों परस्पर विपरीत हैं। जहाँ शिव होगा, वहाँ विष नहीं हो सकता। जहाँ किसी भी प्रकार का विष है, वहाँ शिव नहीं हो सकता। **बैक्टीरिया को हिन्दी में विषाणु कहते हैं, अतः शिव-शिव, हर-हर के जाप से शरीर के विषाणु निर्जीव हो जाते हैं।** ये विषाणु ही शरीर में बीमारी पैदा करते हैं। **शिव, विष के विपरीत है।** जहाँ शिव है, वहाँ **'भय'** और **'विष'** नहीं हो सकते। दैहिक स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रतिकूल जो विषैले पदार्थ हम खाते हैं, उनका विपरीत प्रभाव नहीं होता। जो विषैले लोग हमारे मानसिक तनाव का कारण बने होते हैं, वे हट जाते हैं। वे अपना विष छोड़ देंगे या शिव की कृपा से वे हमें प्रभावित नहीं कर पाएँगे। **'शिव'** और **'विष'** दोनों के साथ छोटी **'इ'** लगी है, अतः दोनों की अपनी-अपनी शक्ति है। विष की शक्ति प्राण हर सकती है और शिव की शक्ति प्राण दे सकती है।

जन्म और मरण की धारणाएँ विषैली हैं। हमारी देह और देह पर आधारित जगत हमारे लिए विषैला बना रहता है। शिव के नाम में इतनी शक्ति है, कि हम इस विष से बचे रहते हैं। शिव नीलकण्ठ है। उसने गले में गरल धारण किया हुआ है। यह तो मात्र प्रतीक है। वस्तुतः शिव का नाम विष को हरने वाला है। वर्ण दोनों में समान हैं। हमारी देह, सगे-सम्बन्धी, कारोबार, धन-सम्पदा, मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा हमारे लिए Slow Poisoning

के हेतु बने हुए हैं। जब शिव तत्त्व का प्रादुर्भाव होगा, तो विष की समाप्ति हो जाएगी। वैरागी शिव के दरबार में भूत-प्रेत नाचते हैं।

वैराग शिव की निहित शक्ति है, जिससे उसके पाँच प्राणों का पुंज प्रकट होता है और उसी में समा जाता है। जब शिव समाधिस्थ होता है, विश्राम करता है, तो उसके पाँचों प्राणों का पुंज, उसके वैराग में लय होता है। जब शिव खेलता है, तो वह स्वतः, स्वान्तः सुखाय, स्वयं से **ही खेलता है।** अपनी परम शक्ति वैराग से अपनी पंच-प्राणों की शक्ति को प्रकट करता है और शिव-शक्ति क्रीड़ा का प्रकाट्य पंच-महाभूतों की रंग-बिरंगी, बहुमुखी, कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों की सृष्टि के विभिन्न रूपों में होता है। समस्त शिव-शक्ति क्रीड़ा में शिव अपने वैराग से, वैराग द्वारा ही खेलता है। सारा खेल शिव के पंच-प्राण-पुंज और उसके वैराग में वैराग द्वारा चलता है। जिसके द्वारा खेल होगा, वह परम सशक्त होना चाहिए। वैराग खेल रहा है, वैराग को खिला रहा है। जैसेकि यदि हमारे साथ कोई खेलने वाला न हो और हमारी इच्छा अपने हाथों या पैरों से खेलने की हो, तो हम अपने हाथों-पैरों से अपने हाथों-पैरों द्वारा ही तो खेलेंगे। **इसी प्रकार शिव अपनी निहित शक्ति वैराग द्वारा स्वतः, स्वयं में, स्वान्तः सुखाय खेलता है।** जब शिव खेलता है, तो कुछ तो होना ही चाहिए। तो पंच-प्राण-पुंज और वैराग की, शिव-शक्ति क्रीड़ा का प्रकाट्य पंच-महाभूतों के रूप में होता है।

महाचेतन पंच-प्राण-पुंज से सहज जड़ पंच-महाभूत प्रकट हुए और उसका वैराग प्रत्येक महाभूत में अदृश्य भस्मी के रूप में समाहित हो जाता है। पंच-प्राण अदृश्य हैं, शिव का वैराग भी अदृश्य है। तो शिव-शक्ति क्रीड़ा में पंच-प्राणों की प्रतिच्छाया पृथ्वी, जल, वायु, आकाश व अग्नि रूप में दृश्यमान जगत प्रकट हुआ। महाचेतन से सहज जड़ प्रकट हुए। इन सहज जड़ महाभूतों को सक्रिय करने वाली तथा इनसे समस्त चराचर जगत में निर्माण, पालन व संहार कर विलीन करने वाली शक्ति है—**'शिव का वैराग' जो इन पाँच महाभूतों में अदृश्य भस्मी के रूप में ठसाठस समाहित है। इसी प्रकार हमारी देह में भी भस्मी वैराग के रूप में समाहित है। यह**

वैराग ही हमारी निहित शक्ति है जो हमारी अन्य समस्त शक्तियों का आधार है। पंच-महाभूतों का धर्म भस्मी है। यदि इनमें भस्मी न हो तो पंच-महाभूत अचल हो जाएँ। सहज जड़ में हलचल या क्रिया कैसे होगी। शिव के संकेत पर ही पंच-महाभूतों का मिलन होता है। इनके विभिन्न अनुपातों में संगम से चराचर सृष्टि प्रकट होती है। शिव का वैराग, इस समस्त सृष्टि में समान तत्त्व भस्मी ही है, जो प्रकट तब होती है, जब पंच-महाभूत अपने-अपने रूप में लीन हो जाते हैं।

भस्मी रूप में यह समान तत्त्वातीत तत्त्व न हो तो ये पंच-महाभूत मिल ही नहीं सकते। हमारी मित्रता, शत्रुता, राग-द्वेष सब किसी Common Factor के आधार पर होते हैं। पंच-महाभूतों का प्रकटीकरण, सम्मिलन, संचालन और लय भस्मी से ही होता है। इसका प्रमाण यह है, कि जब शिव कल्याण के लिए संहार करता है, तो पंच-महाभूत अपने-अपने रूप में लय हो जाते हैं और तब उनमें समान रूप से समाहित अदृश्य भस्मी दृश्यमान हो जाती है। **'भस्मी'** पंच-तत्त्वों से अतीत तत्त्वातीत तत्त्व है।

शिव का वैराग, **भस्मी** तब प्रकट होती है, जब सब कुछ विलय हो जाता है। पंच-प्राणों के सम्मिलन से **'प्राणी'** बना और प्राणी पंच-प्राणों को ही भूल गया। जब **'मैं'** (जीवात्मा) ने इस देह से (जो आनी-जानी है, जन्म-मरणधर्मा है) स्वयं को पहचाना, कि 'मैं देह हूँ', **तो 'मैं' जो महाचेतना का अंश था, जिसका सिर पंच-प्राण-पुंज था और चरण वैराग रूप में भस्मी थे, वह सिर-पैर से रहित हो गया। 'मैं'** जो महाचेतना थी, वह मात्र देह की अवचेतना रह गई। सर्वत्र मैं ही मैं था। उस **'मैं'** ने साथ भी नश्वर देह का किया, जो आनी-जानी, बननी-बिगड़नी वाली वस्तु है। वह महाचेतन जीवात्मा जो परमात्मा की ही तरह अविरल और अकाट्य थी, चिरन्तन, अजर, अमर, अजन्मा, अनादि, अनंत थी, वह जन्म-मरण धर्मा तुच्छ सा जीव बनकर रह गयी। देह के संग दोष से **'मैं'** जीवात्मा इसी की तरह नश्वर, रोगी, दोषी, पापी, पुण्यी बन गयी। मैं पैदा हुआ हूँ और मैं मरूँगा, यह भाव तथाकथित होश सम्भालते ही मुझमें पनपने लगा।

Awareness, बन गई Body Consciousness, फिर मैं थकने लगा, सोने लगा। **जब मैं सोता हूँ, तो मैं होता हूँ, लेकिन मैं नाम-रूप की अवचेतना में नहीं होता।** इसलिए विश्राम पाता हूँ, लेकिन तब सारा खेल भी समाप्त हो जाता है। उस समय न मुझे चेतना होती है, न नाम-रूप की अवचेतना होती है, लेकिन **'मैं'** होता हूँ। मैं यह नहीं कह सकता, कि मैं सोया हुआ हूँ। इसलिए **'मैं'** विशुद्ध चेतना है, जो कभी नहीं सोती। मुझे यह ज्ञात ही नहीं है, कि **'मैं'** कौन हूँ? **देह की अवचेतना आवरण बनकर मेरी चेतनता को आच्छादित कर देती है और मैं खुद से खुद में पर्दा बन जाता हूँ।** देह के साथ तद्रूप होकर मेरी दुर्गति हो जाती है और **'मैं'** जीव बनकर भटकने लगता हूँ। इस जीव भाव की भटकन से थक कर सो जाता हूँ। जब **'मैं'** जाग्रत होता हूँ, तब भी **'मैं'** अपनी वास्तविक जागृति का दावा नहीं कर सकता। देह के साथ मेल से जन्मने, मरने, सोने, मूर्च्छित होने लगा। जब देह मरती है, तो भी **'मैं'** होता हूँ, लेकिन मैं कह नहीं सकता, कि मैं मरा हुआ हूँ। मूर्च्छावस्था में भी मात्र देह मूर्च्छित होती है। **'मैं'** तब भी होता हूँ। वास्तव में **'मैं'** को एक परमोत्कृष्ट देह मिली है। **अपने आनन्द के प्राकट्य के लिए वह यथार्थ देह निराकार है और जन्म-मृत्यु, मूर्च्छा, विस्मृति आदि दैहिक अवस्थाओं से परे है।**

सद्गुरु कहता है, 'जब देह भस्मी में परिणत होगी, तो भी तू उस भस्मी अवस्था के लिए नहीं कह सकता, कि मैं भस्मी हो गया हूँ। इसलिए जीते जी उस भस्मी की अवधारणा कर। इससे तुझमें शिव की विभूत्यातीत विभूति वैराग, जाग्रत हो जाएगी। **वैराग जाग्रत होते ही तू पंच-प्राणों के पुंज के स्वतः सम्मुख होकर सिर-पैर सहित अपने विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप में प्रविष्टि पा लेगा।** हमने मानव-देह के लिए बताया था, कि **देह में भविष्य** और **देह का भविष्य**–दो प्रकार के भविष्य हैं। **देह में भविष्य** वे हैं, जिन्हें धारण करके, जिन्हें ओढ़ कर, हम उनकी प्राप्ति के लिए जीवन-पर्यन्त संघर्ष-रत रहते हैं। क्योंकि ये भविष्य कभी समाप्त नहीं होते। एक लक्ष्य पूरा होता है, दूसरा खड़ा हो जाता है और एक ही समय में एक साथ भी हम कई

भविष्यों की प्राप्ति के लिए जूझते रहते हैं। **ये देह में जितने भविष्य हैं, उनका महात्म्य तभी तक है, जब तक कि देह है।** ये सभी भविष्य अनिश्चित हैं, अस्थिर हैं और हमें भगाते हैं। सबकी देह पृथक्-पृथक् है, इसलिए **देह में** सबके भविष्य पृथक्-पृथक् होते हैं। हम सबकी अकल-शकल, रंग-रूप, परिस्थिति, आर्थिक स्तर, जीवन-शैली, पद-प्रतिष्ठा, नाम-यश आदि अलग-अलग होते हैं। किसी का किसी से कुछ नहीं मिलता। हमारी अपनी देह ही विभिन्न रूप बदलती रहती है। देह का काल, देह के सम्पूर्ण प्रकरण, प्राप्तियाँ, नुकसान, विधाएँ, अवस्थाएँ (बचपन, जवानी, बुढ़ापा आदि), विभिन्न सम्बन्ध, आर्थिक स्थितियाँ, विभिन्न स्थानान्तरण आदि देह के और भी विभिन्न कार्यक्रम होते हैं।

एक ही परिवार के दो बच्चों, पति-पत्नी, माँ-बेटे, पिता-पुत्र सबके भविष्य पृथक्-पृथक् होते हैं। **इसी भिन्नता में ही हम सब जीवन-पर्यन्त भिनभिनाते हुए, सुखी-दुःखी होते रहते हैं और अन्ततः मर जाते हैं।** हम सबकी देह पृथक्-पृथक् होते हुए भी तथा **देह में** भविष्य पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक **देह का भविष्य ऐसा है,** जो सबका एक ही है। **सबकी देहों का वह भविष्य देहातीत है। देह+अतीत जहाँ जाकर देह अतीत हो जाती है।** देह व जीवन **में** भविष्य देह से, देह के लिए, देह में ही है। फिर हम भागते हैं, भाग-भाग कर कुछ न कुछ तथाकथित पाते हैं। हाय-हाय करते हुए पाते हैं, कि वस्तु मिल जाए, न मिली तो क्या होगा? अगर मिल जाती है, तो उसके खोने के भय से भयभीत रहते हैं। **हम भागते हैं, भयभीत होते हैं। इसीलिए हम भोग नहीं पाते और अन्ततः सब कुछ यहीं छोड़कर चले जाते हैं। भय और भाग-दौड़ के साथ भोग का कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।** इस प्रकार हम आजीवन देह **में** उन भविष्यों के लिए भागते हैं, जिनकी प्राप्ति अनिश्चित है और प्राप्ति होने पर भोग अनिश्चित है। जो एक निश्चित भविष्य है, उसे हम उपेक्षित करते हैं, उससे निगाहें चुराते हैं, वह भविष्य है—**'भस्मी'**। उस भविष्य को पाने के लिए आपको कुछ नहीं करना। ख़ाक सबको अवश्य बनना है और उसके लिए कोई योजना-परियोजना बनानी नहीं पड़ती। कुछ

भी नहीं करना पड़ता। **उसके लिए करना यह है, कि उस बने बनाए भविष्य को, जो देहातीत है, देह के होते हुए, ध्यान में धारण करना है।**

हम सब अपने अन्त **मृत्यु** और अन्तान्त **भस्मी** की ओर ही बढ़ रहे हैं। समस्त जीवन-काल में मुझे स्पर्धा में आगे बढ़ना होता है। **'मैं', 'मुझे', 'मेरा', 'मेरे लिए', 'मैंने'** से प्रारम्भ कर हम जितने भी वक्तव्य देते हैं, अथवा सोचते हैं, वे सब मात्र जीवन-काल में और जीवन-काल से बँधे होते हैं। ''देखो ! मैने क्या कर दिया'', ''देखो ! मैं क्या कर सकता हूँ'', ''मैं कर के दिखा दूँगा'', ''मैं अमुक को ऐसा बना कर छोड़ूँगा'' इनमें से कोई भी वक्तव्य जीवन-काल के बन्धन से छूटा हुआ नहीं है। कोई यह नहीं कहता, कि ''मैं भस्मी बनकर दिखाऊँगा''। जीवन-काल में बँधे जितने भी वक्तव्य देते हैं, उनमें हम **'मैं'** लगाते हैं। यह **'मैं'** देह की **'मैं'** है। एक हमारी वैदेहिक **'मैं'** है, हमारी जीवात्मा। देह की यह **'मैं'** कह सकती है, कि मैं भस्मी बनूँगी, लेकिन यह **'मैं'** यह नहीं कह सकती, कि मैं भस्मी बन गयी हूँ।

जीवन-काल में हम बहुत कुछ बनते हैं, बहुत कुछ इकट्ठा करते हैं, बहुत कुछ आबाद-बरबाद करते हैं और अन्त में हम भस्मी बन जाते हैं। जो कुछ बना बनाया, आबाद-बरबाद किया है, तब अवश्य ही सब कुछ स्वाहा हो जाता है। मैं भस्मी अवश्य बनूँगा। उसके लिए मुझे कुछ नहीं करना। परन्तु जीवन-काल में जो कुछ भी मैं बनता हूँ या बनना चाहता हूँ, पाता हूँ, पाना चाहता हूँ, उसके लिए मुझे बहुत कुछ करना पड़ता है।

जो 'मैं' बना या बनना चाहता हूँ, जो अब मैं बन रहा हूँ या बनूँगा, किसी को बना रहा हूँ या बनाना चाहता हूँ, किसी के लिए बन रहा हूँ या बनना चाहता हूँ, जो कुछ मेरे पास एकत्रित है या मैं कर रहा हूँ या करना चाहता हूँ, वह सब उस समय कुछ नहीं रहेगा, जब मैं भस्मी बनूँगा। मुझे ज्ञात है, कि मैं भस्मी अवश्य बनूँगा। **तो पहले भस्मी क्यों न बन जाऊँ?** जो अन्त में बनूँगा, वह तो रुटीन में बनूँगा, तो पहले उस भस्मी की अवधारणा क्यों न कर लूँ, ताकि मैं कह सकूँ, कि **मैं भस्मी हूँ।** क्योंकि जब मैं वास्तव में भस्मी बनूँगा, तब कह ही नहीं सकता। इसका अर्थ है, मेरी देह की वह

अवस्था अवश्य ही बहुत विशेष होगी, जिसका दावा मैं कर ही नहीं सकता। जिन-जिन अवस्थाओं का, वस्तुओं का, पदार्थों और धन-सम्पत्ति आदि का दावा मैं कर रहा हूँ, वह कुछ तो जीवन-काल में नहीं रहा और शेष मेरे भस्मी बनने पर अवश्य ही मेरे लिए नहीं रहेगा। साथ ही उस भस्मी का दावा भी मैं नहीं कर सकता, तो वह भस्मी पहले क्यों न बन जाऊँ?

आज तक मैंने इतने जन्मों में और इसी जन्म में भी इतना कुछ कर-कर के क्या पा लिया? जो भी करता हूँ, सब गुड़ गोबर हो जाता है। भस्मी बन जाता हूँ, पुनः शून्य से प्रारम्भ करता हूँ। ज़रा योजना बदल कर देखूँ। मेरी देह, भस्मी अवस्था में अवश्य आएगी। यदि मैं विवेक, प्रज्ञा, मेधा, ऋतम्भरा द्वारा उस अवस्था का विचार करूँ, तो मैं पाता हूँ, कि जो कुछ भी हो रहा है, होगा, हो चुका है या नहीं होगा, मैं कर रहा हूँ या करवा रहा हूँ, वह कुछ भी नहीं रहेगा। हम सब जानते हैं, कि चाहे मैं जो कुछ भी योजनाएँ बना लूँ, कुछ भी कर लूँ, किसी भी समय मेरी भस्मी बन सकती है और उसके साथ ही मेरा समस्त संसार मेरे लिए शून्य हो जाएगा। मैं उस भस्मी का Claim भी नहीं कर सकता। यदि सद्गुरु-कृपा से मैं अपनी भस्मी के लिए यह कह सकूँ, कि मैं भस्मी बन गया हूँ, तभी मुझे **'सद्'** की अनुभूति होगी। मेरी देह की वह अवस्था अपरिवर्तनीय है। सुषुप्तावस्था, मूर्च्छावस्था, विस्मृतावस्था से 'मैं' पुनः वापिस देह में आता हूँ, मृतकावस्था पर यदि मैं एकाग्र करूँ तो भी मेरी देह व देह पर आधारित जगत होता है। अन्य अवस्थाओं में भी देह रहती है, लेकिन **'भस्मी'** मेरी देह की वह निश्चित अवस्था है, जहाँ देह व देह पर आधारित जगत स्वतः समाप्त हो जाता है। देह के लिए और देह से जो भी किया है, सब समाप्त हो जाता है, लेकिन मैं कह नहीं सकता, कि मैं भस्मी बन गया हूँ। यदि मैं जीवन-काल में कुछ करके भस्मी बन जाऊँ और दावा कर लूँ, कि मैं भस्मी हूँ, तो कुछ भी करके जो-जो बनता हूँ, वह भस्मी बनने पर कुछ नहीं रहता। भस्मी बनने के लिए मुझे कुछ नहीं करना होता। कुछ करके और कुछ बनने-बनाने से पहले मैं भस्मी बन जाऊँ, इसके लिए हमें स्थिर होकर विवेक बुद्धि से विचार करना

होगा। **हमारी जितनी भाग-दौड़ है, वह उस मृत्यु और भस्मी से आँखें मूँदने के कारण है। उसे उपेक्षित करने के लिए दौड़-भाग कर रहे हैं।**

'भस्मी' मेरा निश्चित, परिलक्षित और दर्शित भविष्य है। मैं सद्गुरु-कृपा से कुछ भी करके, किसी भी तरह से, सब तरह से निश्चित को सुनिश्चित, परिलक्षित को लक्ष्य और दर्शित को दृश्य क्यों नहीं बना सकता ? मानव-देह धारण करके मेरा कर्म मात्र यही है। परन्तु यह कर्म उसके **'करम'** (कृपा) के बिना सम्भव नहीं है। **यह क्रान्ति है। देह की महाक्रान्ति है।** यदि मैं यह कह सकूँ, कि मैं भस्मी हूँ तो मेरी देह की तुच्छ **'मैं'** उसी वक्त मर जाएगी, और मेरी **'मैं'** (जीवात्मा वाली) का इतना विस्तार हो जाएगा, कि जो **'मैं**' एक देह से कर-कर के, कर रहा हूँ, मुझे अनुभव हो जाएगा, कि असंख्य देहें मेरे लिए ही कर रही हैं। हम प्राप्तियों के पीछे भागते हैं और अधिकार खो रहे हैं। **अधिकार** ईश्वरीय गुण है, जो स्थिरता जप, तप, प्रार्थना, एकाग्रता, वरदान व आशीर्वाद से प्राप्त होता है। प्राप्तियाँ तो जो होनी हैं, हो जाएँगी, हो रही हैं। **महत्त्वपूर्ण अधिकार है।** अधिकार प्राप्त करने के लिए दैव-शक्तियों के आगे समर्पण करना पड़ता है। भोग और आनन्द का अधिकार पाने के लिए यह दैवीय औपचारिकता है।

जब मैं स्वयं को देह के साथ पहचानता हूँ, तो पितृ-ऋण, देव-ऋण, ऋषि-ऋण आदि कई **'कर'** या ऋण मुझ पर लागू हो जाते हैं और कोई भी देह टैक्स नहीं दे पाती। भोग के लिए भी मात्र टैक्स देना ही पर्याप्त नहीं है, इसके लिए अपनी प्राप्तियों का पूर्ण समर्पण अपेक्षित है, तब जाकर दैवीय संस्थानों द्वारा आपका केस भोग के लिए पारित होगा। हम देह का ही कितना भोग कर पाते हैं। सुबह से लेकर रात तक यह देह हमें नचाती है, फिर सपने में भगाती है। सारा दिन हम मन-मस्तिष्क में अपने से ही बातें करते रहते हैं। दिन में दस या पन्द्रह मिनट के लिए भी क्या हम शान्त व स्थिर होते हैं, जहाँ हम अपने शून्य स्तर पर आ सकें। **जब देह साथ चिपकेगी तो आप कुछ न कुछ अवश्य बनेंगे और करेंगे। नहीं तो मन ही मन स्वयं से बातें करके संसार खड़ा करते रहेंगे।** कोई स्थिति ऐसी हो

जहाँ मैं होऊँ और मैं कुछ न होऊँ। इस **'मैं'** को भस्मी का अवलम्बन देना होगा।

मैं स्वयं को भस्मी रूप में देख रहा हूँ, जहाँ देह की जगह भस्मी हो, तो देख कौन रहा है? **मेरा जीवात्मा स्वरूप उस दृश्य का दृष्टा है। क्योंकि मैंने दर्शित को दृश्य बना लिया। 'मैं'** भस्मी हूँ, इसे कहने, प्रमाणित करने वाली दृष्टि देह की नहीं है, क्योंकि देह तो उस समय रहती ही नहीं। वह दृष्टि मेरी जीवात्मा की है। **देह का वह दृश्य जो दर्शित तो है, लेकिन मेरे लिए कभी वह दृश्य नहीं बना। जब मैं ध्यान में उसे दृश्य बना लेता हूँ, उस क्षण में जीवात्मा उस देह में प्रतिनिधित्व करती है। कभी-कभी ध्यान में बैठे-बैठे कुछ प्रकाश या लौ नज़र आती है।** जब मुझे चेतना होती है, कि मैं भस्मी हूँ, तो वह देह उन क्षणों में ईश्वर-अंश जीवात्मा का सीधा प्रतिनिधित्व करती है। **'मैं'** भस्मी हूँ, एक ओर जीवात्मा और दूसरी ओर **'परमात्मा'** दोनों का प्रतिनिधित्व करती है। **अब मध्य से यदि जीवात्मा को हटा दो, तब परमात्मा, 'मैं' भस्मी हूँ' का प्रतिनिधि होगा।** इस प्रकार उस समय **'मैं'** ईश्वर का सीधा प्रतिनिधि बन जाऊँगा। फिर सब कुछ वही कराएगा, मैंने क्या करना है ! मैं कर रहा हूँ अथवा जो मैंने किया है या करूँगा, यह भाव आते ही ईश्वर लुप्त हो जाएगा। ईश्वर का प्रतिनिधित्व तब होगा, जब मुझमें **कर-कर-कर का भाव समाप्त हो जाएगा और मुख से हर-हर-हर निकलने लगेगा।** उस समय सारी प्रक्रियाएँ समाप्त हो जाएँगी और ईश्वर का सीधा प्रतिनिधित्व होगा तथा जो वह करवाएगा वही होगा। सब कुछ आनन्द में प्रारम्भ होगा, आनन्द में चलेगा और आनन्द में ही समाप्त होगा। उस समय की स्थिति के विषय में जगद्‌गुरु शंकराचार्य जी ने कहा है:—

> ***''आत्मा त्वं गिरिजा मति सहचरा प्राणाः शरीरं गृहं,***
> ***पूजा ते विषयोपभोग रचना निद्रा समाधि स्थिति।***
> ***संचार पदयो प्रदक्षिण विधि, स्तोत्राणि सर्वा गिरौ***
> ***यत् यत् कर्म करोमि तत् तत् शम्भू तव आराधना।''***

ध्यानावस्था में भस्मी का दिग्दर्शन हो जाएगा। वह एक मानसिक स्थिति है। आप केवल इसी स्थिति में समर्पण का समर्पण कर पाते हैं। मानव-देह धारण करके यदि कोई कृत्य है, तो केवल यही है। इस स्थिति की अनुभूति के बाद कृत्य ही समाप्त हो जाते हैं। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का निर्माण, पालन व संहार जिसका भृकुटि विलास मात्र है, उसने आपसे क्या करवाना होगा? उसने अपना रचाया खेल देखने हमें भेजा है, हम इसका भरपूर आनन्द लें। **वीर, धीर, स्थिर, सहृदय, श्रद्धालु, उदार व अथाह प्रेमपूरित लोग ही इस भस्मी रूप दर्शित भविष्य को दृश्य बना सकते हैं।** लेकिन हम वह देखना चाहते हैं, जो रहेगा नहीं, जो था नहीं। अतः जो निश्चित, परिलक्षित, दर्शित है उसे लक्ष्य बनाइए। **भस्मी संसार की समस्त विभूतियों का स्रोत हैं, भस्मी वैराग की अतिशक्ति है।** समस्त विभूतियों का स्रोत जब प्रकट होता है, तब मैं ही नहीं रहता, तो क्यों न पहले उस स्रोत को प्राप्त कर लूँ। सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति आदि विभूतियों का स्रोत, विभूत्यातीत विभूति वैराग है। यही आनन्द है, जो देहातीत है। आनन्द देह में नहीं है। देह से ही उस देहातीत स्थिति का अनुभव कर उस आनन्दानुभूति का देह में सदुपयोग करें। यही शिवत्व का रहस्य है, जहाँ समस्त विष समाप्त हो जाते हैं।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(14 से 27 फरवरी 2006)

जीव-जीवात्मा

परमात्मा सृष्टि को रच कर तटस्थ नहीं हो जाता, वह सृष्टि का स्रष्टा भी है और दृष्टा भी है। **जीवात्मा, मात्र दृष्टा** है। वह महादृष्टा परमात्मा सृष्टि का निर्माता, पालनकर्ता, संहारकर्ता, पुनर्निर्माणकर्ता, संशोधनकर्ता सब कुछ है। संसार रूपी रंगमंच पर जो कुछ भी होता है, सब उसकी संरचना है। लेकिन वह कुछ नहीं करता, सब कुछ प्रकट होता है। जीवात्मा केवल दृष्टा है, उसे सृष्टि रचने का अधिकार नहीं है। **निराकार, अदृश्य जीवात्मा जो स्वयं आनन्दस्वरूप और सहज सुखराशि है, उसके लिए स्रष्टा द्वारा रचाया गया प्रत्येक दृश्य और दृष्टा-भाव उसका मनोरंजन है।** दृष्टा जीवात्मा स्वयं में मनोरंजन है, ईश्वर-अंश होने के कारण अविरल आनन्द, चेतन और सहज सुख का भण्डार है। उस आनन्द के संवर्धन एवं प्रकाट्य के लिए उसके लिए परमात्मा साकार द्वसृष्टि रचता है। निराकार और साकार दोनों रूपों में जीवात्मा अविरल व अखण्ड आनन्दघन है।

हम देह धारण कर विभिन्न यज्ञ-हवन आदि करते हैं। यज्ञाग्नि प्रकट होती है। यहाँ एक ओर जीवात्मा दृष्टा रूप में निराकार है और प्रकाट्य देह रूप में साकार है और दूसरी ओर वही जीवात्मा पंच-महाभूतों की देह में साकार है और प्रकाट्य **'अग्नि'** निराकार है। अर्थात् दृष्टा निराकार हो अथवा साकार हो दोनों में कोई भेद नहीं है, बशर्ते दोनों आनन्दमय हों। स्रष्टिकर्ता ईश्वर तो आनन्दमय है ही। यदि किसी का आनन्द खण्डित होगा, तो उसके लिए कोई भी प्रकाट्य आनन्दमय नहीं हो सकता। सृष्टिकर्ता ने सृष्टि आनन्द में रची है, उसके द्वारा प्रकट हर दृश्य ईश्वरीय

आनन्द से ओत-प्रोत होता है। हम लोग सामूहिक रूप से हवन करते हैं तो हवन में प्रकट अग्नि मन्त्रों की शक्ति से प्रदीप्त होती है, वह अग्नि शीतल भी है और उष्म भी है। वह शिव के पंच-प्राणों का प्रतिनिधित्व करती है। साथ ही वह अग्नि हवन करने वालों के सामूहिक हृदय के आनन्द का प्राकट्य है। दृष्टा साकार है और प्राकट्य यज्ञाग्नि रूप में निराकार हैं। **जहाँ किसी में उस आनन्द की न्यूनता आ जाएगी वहाँ यह प्राकट्य उसके लिए आनन्दमय प्राकट्य नहीं होगा, ग्रहण लग जाएगा।** ग्रहण का कारण न परमात्मा है न जीवात्मा, क्योंकि दोनों ही अंश-अंशी होने के कारण स्वयं प्रकाशवान हैं। लेकिन साकार देह स्वयं प्रकाशवान नहीं है। परमात्मा और जीवात्मा के बीच में देह आ जाती है। वह देह जो दृश्यमान सृष्टि का अंग है और दृष्टि है। देह तथा देह पर आधारित जगत, सृष्टि है। **दृष्टि देह की है और दृश्य देह और देह पर आधारित जगत है, जिसका दृष्टा जीवात्मा है और स्रष्टा परमात्मा है।** देह और देह पर आधारित जगत के पास स्वयं अपना प्रकाश नहीं है। जीवात्मा जो दृष्टा है, उसके पास अपना प्रकाश है, क्योंकि वह सच्चिदानंद का अंश है।

जब हम कमरे में बल्ब का स्विच ऑन करते हैं तो कमरे के साथ-साथ बल्ब भी प्रकाशित होता है। हम बल्ब को भी बल्ब के प्रकाश में ही देखते हैं। **बल्ब प्रकाश विकीर्ण करता है और स्वयं बल्ब भी अपने प्रकाश से प्रकाशमान होता है।** दृष्टा को देखने के लिए उसका स्वयं का प्रकाश होना आवश्यक है। उसे प्रकाश चाहिए अथवा वह स्वयं प्रकाशित हो। जीवात्मा स्वयं प्रकाशित है और परमात्मा की भाँति सच्चिदानंद है। **जब ईश्वरीय-ग्रहण लगता है,** जिसे शास्त्रीय शब्दों में ईश्वर-विमुखता कहा जाता है, तब परमात्मा और जीवात्मा के बीच में **'देह'** आ जाती है, जो स्वयं प्रकाशित नहीं है। **तो देह की छाया में परमात्मा ओझल हो जाता है और जीवात्मा परमात्मा से विमुख हो जाता है।** जीवात्मा देह को देखता है, लेकिन परमात्मा उसे नज़र नहीं आता। जीवात्मा के पास अपना प्रकाश है, इसलिए वह देह और देह पर आधारित जगत को देखता है, लेकिन परमात्मा

से विमुख हो जाता है। परमात्मा द्वारा रची इस सृष्टि में सब कुछ स्वतः संचालित होता है। उस सृष्टि में अपनी देह और देह पर आधारित जगत का दृश्य वह परमात्मा के सम्मुख होकर आनन्द में निठल्ला बैठा देख रहा था, वाह-वाह कर रहा था तो आनन्द-स्रोत परमात्मा के ओझल होने के कारण उसे प्रतीत होने लगा, कि इस सृष्टि के क्रिया-कलाप का कारण वह स्वयं है। **वह भ्रमित होकर कर्ता बन गया। उसे जो देह दी गई वह उस समस्त सृष्टि का अंग भी थी और पूरी सृष्टि का आधार वह देह ही थी।** उस व्यष्टि में ही समस्त सृष्टि समाहित थी। जब देह प्रकट होती थी तो साथ-साथ उस पर आधारित जगत भी प्रकट होता था। **इस सृष्टि के मध्य में आने से परमात्मा ओझल हो गया और इस सम्पूर्ण सृष्टि का कारण व कर्ता 'मैं' हूँ यह भाव, ग्रहण की तरह से जीवात्मा को निगलने लगा तथा जीवात्मा तुच्छ व संकीर्ण जीव बनकर भटकने लगी।**

पृथ्वी और सूर्य के मध्य जब चन्द्रमा आ जाता है, तो सूर्य-ग्रहण लग जाता है। चन्द्रमा की छाया पृथ्वी पर पड़ती है और पृथ्वी के उतने भाग को वह छाया आच्छादित कर देती है। सूर्य ढक जाता है। चन्द्रमा का पृथ्वी और सूर्य के मध्य में आ जाना सूर्य-ग्रहण का कारण है। जैसे ही चन्द्रमा मध्य से हटता है, तो ग्रहण भी हट जाता है। ग्रहण लगता भी चन्द्रमा के कारण है और हटता भी उसी के कारण है। इसी प्रकार जब सूर्य और चन्द्रमा के बीच पृथ्वी आ जाती है तो चन्द्र-ग्रहण लगता है। वहाँ पृथ्वी की छाया में चन्द्रमा ढक जाता है। **सूर्य किसी के बीच में नहीं आता, चाहे वह सूर्य-ग्रहण हो, या चन्द्र-ग्रहण हो।** सूर्य-ग्रहण में चन्द्रमा मध्य में आता है और चन्द्र-ग्रहण में पृथ्वी बीच में आ जाती है। **ग्रहण का दूसरा आयाम है, कि बीच में आता है चन्द्रमा और ग्रहण लगता है सूर्य को, बीच में आती है पृथ्वी और ग्रहण लगता है चन्द्रमा को। सूर्य स्थिर और तटस्थ रहता है। सूर्य स्वयं प्रकाशित है, उसकी छाया है ही नहीं।** चन्द्रमा और पृथ्वी के पास अपना प्रकाश नहीं है। सूर्य स्वयंभू प्रकाशवान है। ईश्वर सच्चिदानंद है और छः विभूतियों से युक्त है। सूर्य के पास जैसे अविरल प्रकाश है, वैसे ही ईश्वर के

पास अविरल निहित शक्ति, **'वैराग'** है और उसके पंच-प्राणों की शक्ति का पंच-महाभूतों में प्रकाट्य भी अविरल है। परमात्मा स्रष्टा है। सृष्टि उस के सद्-संकल्प का आनन्दमय प्रकाट्य, पालन व संहार है। यह प्रक्रिया अविरल चलती रहती है जिसका दृष्टा जीवात्मा है। जीवात्मा को दी जाने वाली देह और देह पर आधारित जगत सृष्टि है। सृष्टि के निर्माण से पहले भी जीवात्मा है, मध्य में भी है और संहार के बाद भी रहता है। जीवात्मा परमात्मा की तरह अविरल, अकाट्य, निर्बाध और सच्चिदानंद है। **जब इसका सान्निध्य देह से हो जाता है, वहाँ 'मैं देह हूँ' भाव से यह ईश्वर के विमुख हो जाता है।** उस देह के कारण ही ग्रहण लगता है और देह-भाव हटने से ग्रहण हट जाता है। जैसेकि चन्द्रमा लुप्त या नष्ट नहीं होता, पृथ्वी और सूर्य के मध्य से हट जाता है, तो ग्रहण हट जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा का देहाध्यास जब हट जाता है, तो भी देह रहती है, लेकिन ग्रहण हट जाता है। देह के साथ तद्रूप होने से जीवात्मा के स्वरूप को ग्रहण लग गया वह **'जीव'** बन गया। उसके लिए जो सृष्टि उस स्रष्टा ने बनाई, जीव बनकर उसे भ्रम हो गया, कि यह सृष्टि मैंने बनाई है। सृष्टि, पालित हो रही थी, उसे भ्रम हो गया कि इस पालन व संहार का कारण भी **'मैं'** ही हूँ। इस प्रकार जीवात्मा को ग्रहण लग गया। यह जीव-सृष्टि में भटकने लगा। **यदि देह इसको छोड़ दे तो यह भी देह को छोड़ देगा, यह ग्रहण हट जाएगा तथा परमात्मा व जीवात्मा एक दूसरे के सम्मुख हो जाएँगे। यह आध्यात्मिक विज्ञान है।**

महापुरुषों ने ईश्वरीय **'सद्'** को सीधा ग्रहण करने का अति दुस्तर प्रयास किया है, जो असम्भव नहीं है, लेकिन अत्यधिक दुष्कर व कठिन अवश्य है। प्रभु-कृपा से मैंने **'असद् का सद्'** ग्रहण करने का प्रयास किया है। शास्त्र में देह व जगत को मिथ्या व स्वप्नवत् कहा है, लेकिन जो इसे नश्वर, मिथ्या या स्वप्न घोषित कर रहा है, वह तो **'सद्'** है। जो **'मिथ्या'** है, उसका आधार **'सद्'** होगा। यदि हम कहते हैं, कि अँधेरा है, इसका स्पष्ट अर्थ है, कि हमें प्रकाश का ज्ञान है। यदि हम किसी को निर्धन या बलहीन

कहते हैं, इसका अर्थ है कि हमें धनाढ्यता और बल का ज्ञान है। क्योंकि यह सापेक्षिक शब्दावली है। अतः जिसे हम मिथ्या जगत कहते हैं, तो इसके पीछे सत्य होना आवश्यक है। **मैंने इस मिथ्या व नश्वर से सद् व शाश्वत् को ग्रहण करने का प्रयास किया है।** हम मिथ्या से भरपूर हैं, तो **'सद्'** को सीधा ग्रहण करने की आवश्यकता ही नहीं है। मिथ्या का इतना भण्डार हमारे आस-पास है कि इसमें से सद् की खोज सरल हो जाती है। **इस मिथ्यात्व का 'सद्' ग्रहण कर लो।** हमारी कथनी-करनी, आना-जाना, वादे-आश्वासन सब मिथ्या ही तो हैं। बिना सद् के मिथ्या हो ही नहीं सकता। **जो मिथ्यातत्व का सद् है, वही 'सद्' का 'सद्' है।** महाकालेश्वर जो काल का ईश्वर है उसका जो 'सद्' है, वही काल का भी 'सद्' है। अकाल का 'सद्' और काल का 'सद्' एक ही है। हम काल की तीन विधाओं में बँधी तथाकथित **'असद्'** इस सृष्टि से **'सद्'** का अधिग्रहण क्यों न करें।

परमात्मा ने जीवात्मा को मात्र दृष्टा बनाया था, उसे कुछ भी करने का अधिकार ही नहीं दिया था। इसे देह का अवलम्बन लेकर मात्र ईश्वर द्वारा रची सृष्टि की प्रशंसा करनी थी। जीवात्मा में सृष्टि रचने की शक्ति है, क्योंकि वह परमात्मा का ही अंश है, लेकिन उसे ईश्वर की ओर से सृष्टि रचने का अधिकार नहीं दिया गया। अब देह के मध्य में आने से **जब जीवात्मा को ईश्वर-ग्रहण लग गया, यानि ईश्वर उसकी आँखों से ओझल हो गया, तो दृष्टा और स्रष्टा के के बीच में सृष्टि (देह और उस पर आधारित जगत) आ जाती है।** इससे परमात्मा लुप्त हो जाता है और जीवात्मा को मानों ईश्वर-ग्रहण लग जाता है। जीवात्मा को भ्रम हो जाता है, कि सृष्टि में अपनी देह सहित जो दृश्य वह देख रहा है, उसका निर्माता, पालनकर्ता व संहारकर्ता वही है। उसे भ्रम हो गया, कि 'मैं देह हूँ'। **यह तब हुआ जब देह और देह पर आधारित जगत इसके और ईश्वर के मध्य आ गया। प्रारम्भ में यह स्थिति नहीं थी।** अब देह का अवलम्बन लेकर स्वयं को देह मानकर यह जो कुछ भी जीव-सृष्टि रचता है, वह ईश्वर द्वारा स्वतः

रची जा रही है। लेकिन यह ईश्वर को नहीं देख पाता और स्वयं को कर्ता-धर्ता मान लेता है। यहाँ पर आकर जीवात्मा जीव बनकर कर्म-बन्धन में फँस गया। कर्म हो रहे हैं, लेकिन इसके यह मानने से कि मैं कर रहा हूँ, यह कभी पापी, कभी पुण्यी न जाने क्या-क्या बन गया। देह की भाँति जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, प्रारब्ध आदि के बन्धनों में जकड़ा गया। जो अजन्मा और अमर था वह स्वयं को जन्म-मरण धर्मा मानने लगा। **यही हम सब जीवों की गति है।** इससे उबरने का एक ही उपाय है, कि तथाकथित ईश्वर-ग्रहण समाप्त हो। जिसके लिए आवश्यक है, कि **देह** होते हुए भी इसके और परमात्मा के बीच से हट जाए।

वस्तुतः जीवात्मा सृष्टि रूप इन विभिन्न स्वप्नों का दृष्टा है, **लेकिन देह की दृष्टि से नहीं।** जीवात्मा की दृष्टि से वह विभिन्न स्वप्नों में देह व देह पर आधारित सृष्टि का केवल दृष्टा है। किसी भी सृष्टि के निर्माण का अधिकार उसे नहीं है। यह शिव-शक्ति-क्रीड़ा द्वारा शक्ति का प्रकाट्य **सा** है। शिव में शक्ति समाहित ही है। केवल उसकी मायिक प्रस्तुति होती है। उस मायिक प्रस्तुति में जीवात्मा को मायिक देह दी जाती है, जिसका अवलम्बन लेकर उसे मायिक इन्द्रजाल का आनन्द लेना था, उस एक देह के सान्निध्य में आने पर उसे देह होने का भ्रम हो गया और वह समस्त प्रपंच इसके गले पड़ गया।

एक शिशु को चाहे हम कितना भी सिखाते रहें, कि यह तेरे पापा हैं या माँ है, जब तक वह स्वयं को देह से नहीं पहचानेगा, तब तक उसके लिए कोई माँ-बाप नहीं होंगे। **यह इस मिथ्या देह का 'सद्' है।** जो इस **'भ्रम'** का **'सद्'** है, वही **'ब्रह्म'** का **'सद्'** है। जब मैं अपनी देह की अवचेतना में होता हूँ तभी जगत की अवचेतना में भी होता हूँ। तो देह और जगत की अवचेतना का मूल देह में ही है। वहाँ से पहले देह जाग्रत होती है, तो जगत भी प्रकट होता है। पहले देह की अवचेतना समाप्त होती है और साथ ही जगत का भी लय हो जाता है। सारा क्रियान्वयन देह द्वारा है। जगत को सपना वही कहेगा जो जाग्रत होगा। स्वप्न में तो कोई नहीं कहता, कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ। तथाकथित जाग्रत होकर ही कहता हूँ कि मैंने स्वप्न

देखा और स्वप्न सुनाता हूँ कि मैं स्वप्न में लन्दन गया वहाँ मैं जंगल में भटक गया था, मेरे पीछे शेर लग गया था, मैं पेड़ से टकराया, मेरे सिर से खून निकल आया, तभी मेरी नींद खुल गई। मुझे भली-भाँति ज्ञान है, कि लन्दन जाने वाला व्यक्ति मैं नहीं हूँ, क्योंकि मैं तो रात को अपने दिल्ली वाले घर में बिस्तर पर सोया और उसी से उठा हूँ। अतः जिस देह ने वह दृश्य देखा था, निश्चित तौर पर वह व्यक्ति मैं नहीं हूँ, क्योंकि न तो कहीं आया न कहीं गया, मैं तो सो रहा था। जिस व्यक्ति ने लन्दन का दृश्य या जंगल में अपने भटकने का दृश्य देखा था, वह स्वप्न के साथ ही समाप्त हो गया। लेकिन मैं अपनी स्मृति से स्वप्न सुनाता हूँ। तो मुझे उस दृश्य की स्मृति कैसे है? जो भी मैं सुनाता हूँ, वह उस स्वप्न के व्यक्ति को सम्बोधित करके सुनाता हूँ, जोकि मैं नहीं हूँ, लेकिन फिर भी स्वयं को जंगल में शेर से भयभीत, वह व्यक्ति ही महसूस करता हूँ। शेर जिस व्यक्ति के पीछे पड़ा था, जो पेड़ से टकराया था, वह व्यक्ति मैं नहीं हूँ। **जिसने वह स्वप्न देखा, वह मैं नहीं हूँ, तो स्मति किसकी है, जिसे वह समस्त घटना ज्यूँ की त्यूँ याद है।** क्या यह तथ्य जानना आवश्यक नहीं है? दोनों की स्मृति एक जैसी कैसे है? वस्तुतः यह स्मृति दृष्टा जीवात्मा की है, देह की नहीं है। दोनों का दृष्टा एक ही है, दृश्य, पृथक्-पृथक् हैं। उस स्वप्न का दृश्य, पृथक् था। वह देह व उस पर आधारित जगत पृथक् था और तथाकथित जाग्रत होने पर इस दृश्य की देह पृथक् है और उस पर आधारित जगत भी पृथक् है। दोनों का दृष्टा एक ही है। **'मैं'** देह रूप में उस स्वप्न वाली देह की भौतिक निरन्तरता हूँ। दृष्टा कहीं गया-आया नहीं, टस से मस नहीं होता, वह निराकार है। यह **'स्मृति भगवती'** इस दृष्टा की है। जीव बना जीवात्मा जब दृष्टा पद पर पहुँचता है, तो उसे अपनी एक देह नहीं, जन्म-जन्मान्तरों की विभिन्न देहों और उन पर आधारित जगत की स्मृति आ जाती है। जीवात्मा जहाँ देह के साथ तद्‌रूप हो गया वहाँ एक के बाद एक स्वप्नवत् दृश्यों में इसे दी गई देहों के साथ तद्‌रूप होकर कर्मबन्धन, पाप-पुण्य, प्रारब्ध और न जाने किन-किन बन्धनों में फँस गया।

हर स्वप्न का भूत और भविष्य होता है, वह साकार में होता है। लेकिन **'मैं'** जीवात्मा अकाल है और निराकार है। वह देह नहीं है, बल्कि देह और देह पर आधारित जगत का दृष्टा है। देह का भूत, भविष्य और वर्तमान है, लेकिन दृष्टा काल की तीनों विधाओं से परे है। मैंने स्वप्न देखा, कहते हुए मैं स्वप्न की देह को **'मैं'** मानता हूँ, जबकि **'मैं'** दृष्टा है जीवात्मा है, क्योंकि वह किसी देह से बँधा हुआ नहीं है। देह से वह इसलिए बँध सा गया, क्योंकि उसे भ्रम हो गया, कि मैं देह हूँ। बदलते हुए दृश्यों का दृष्टा नहीं बदलता। वह वहीं का वहीं विभिन्न देहों का खेल देखता है। लेकिन देह के साथ तद्‌रूप होने के कारण यह जीव बन जाता है और यह खेल उसके लिए झमेल बन जाता है। **सृष्टि बदली, स्रष्टा नहीं बदला, दृश्य बदला, दृष्टा नहीं बदला।** स्रष्टा परमात्मा और दृष्टा जीवात्मा दोनों निराकार, देहातीत व सच्चिदानंद हैं। सृष्टि साकार है, सृष्टि में एक मेरी देह और देह पर आधारित जगत होता है। यह तथ्य सभी देहों के लिए **'सद्'** है। न वह एक देह है और उस पर आधारित जगत है क्योंकि स्वप्न से जागने पर सारा दृश्य उस देह के साथ लय हो जाता है। साथ ही स्वप्न किसी के हाथ में है नहीं, क्या हम कह सकते है, कि कल स्वप्न में मैंने चाँदनी चौक में पराँठे खाए थे, आज स्वप्न में रसगुल्ले खाऊँगा। न जाने वह स्रष्टा आज की सृष्टि में मुझे क्या दिखाए और क्या खिलाए ! स्वप्न किसी के हाथ में नहीं होता।

सृष्टिकर्ता, स्रष्टा अदृश्य है, निराकार है, इसका दृष्टा जीवात्मा भी अदृश्य है, निराकार है। यह सृष्टि उस स्रष्टा का संकल्प है, जो दृष्टा जीवात्मा के लिए दृश्य बनकर खड़ी हो जाती है। वह दृष्टा जानता है, कि किसी भी दृश्य का स्रष्टा वह नहीं है। वह मात्र देखने वाला है, जो हर दृश्य में उसे दी गई एक देह और उस पर आधारित जगत का खेल देखता है। जैसी भी देह उस दृश्य के अनुसार उसे दी जाती है, उस समय उसे स्रष्टा द्वारा जो बनाया जाता है, वह बन जाता है। अगले दृश्य का पहले वाले दृश्य से कोई सम्बन्ध या निरन्तरता नहीं होती, लेकिन दृष्टा वही रहता है। ईश्वर किसी दृश्य में डॉक्टर को मरीज बना सकता है, अध्यापक को छात्र और

दुकानदार को ग्राहक बना सकता है। वह मरे हुओं को ज़िन्दा कर सकता है। जैसेकि कभी-कभी हमें स्वप्न में अपने दिवंगत पूर्वजों के दर्शन होते हैं। **सृष्टिकर्ता ने उस समय जो सृष्टि रची, वह दृष्टा ने देखी, यह उस समय का 'सद्' है। सृष्टि का सद् यह है कि इसका रचने वाला परमात्मा है, दृष्टा जीवात्मा सृष्टि नहीं रच सकता।** कल जो सृष्टि आपके के लिए रची, आज जो रची गई है और कल जो रची जाएगी, वह न तो आपके हाथ में थी, न है और न होगी। यदि स्वयं को कहीं भी कारण मानेंगे तो फँस जाएँगे, कि मैं पुण्यी हूँ, मैं पापी हूँ, मैंने उसके लिए इतना किया, लेकिन वह मुझे आँखें दिखा रहा है। मैं यह करना चाहता हूँ, मेरा इतना प्रतिरोध हो रहा है। यह समस्त साकार सृष्टि जिसे शास्त्र में मिथ्या या स्वप्नवत् कहा गया है, इसका सद् यह है, कि जीवात्मा केवल दृष्टा है। वह सृष्टि का रचयिता नहीं है और सृष्टि का अंग भी नहीं है। **समस्त दृश्य और उसका दृष्टाभाव मात्र उसके मनोरंजन के लिए है।**

दुर्भाग्यवश जब जीवात्मा देह के साथ तद्‌रूप हो गया तो इसने इस सृष्टि का **'सद्'** जानने का प्रयास नहीं किया, बल्कि सृष्टि को **'सद्'** मान लिया। मायिक सृष्टि को देह का अवलम्बन लेकर इसे भ्रमित होकर देखना था, लेकिन यह इस भ्रम से भ्रमित हो गया। उस दृष्टा जीवात्मा ने देह को अपना स्वरूप मान लिया, जबकि इसका स्वरूप था **'भस्मी'।** यदि इसे अपना स्वरूप याद रहता और फिर यह देह को अपना रूप मानता, तो संसार महानाट्यशाला के हर स्वप्नवत् दृश्य का आनन्द लेता। लेकिन दुर्भाग्यवश यह अपना **'भस्मी'** स्वरूप तो भूल गया और देह को अपना स्वरूप मान लिया और तब जीवात्मा को तथाकथित ईश्वरीय-ग्रहण लग गया। यदि देह के रूप में भी जीवात्मा अपनी हैसियत को समझ जाता, कि **'मैं'** देह रूप में हूँ, तो जगत है और यदि **'मैं'** देह रूप में नहीं हूँ, तो जगत भी नहीं है। इसके बाद देह को **'मैं'** कहता तो 'मैं देह हूँ' के साथ जगत को भी **'मैं'** कहता और तब देह के साथ समस्त सृष्टि पर इसका अधिकार हो जाता। इसे Realisation की Utilisation कहते हैं। हम ***'सर्वे भवन्तु सुखिनः***

की प्रार्थना करते हैं, कि सब सुखी रहेंगे, तो मैं भी सुखी रहूँगा। क्योंकि मैं जगत से पृथक् नहीं हूँ। **सबमें 'मैं' भी हूँ और सबका आधार 'मैं' ही हूँ और देह रूप में 'मैं' भी नहीं हूँ। 'मैं'** मात्र दृष्टा हूँ तथा उस समस्त सृष्टि का रचयिता परमात्मा है। यही हमारी भारतीय संस्कृति का मूल है और इस **'असद्'** सृष्टि का **'सद्'** है।

देह और जगत दोनों को 'मैं' इसलिए कहा है क्योंकि जीवात्मा स्वप्नों का दृष्टा है, जो देह और देह पर आधारित जगत दोनों का एक ही है। एक देह के स्वप्न से हटते ही सारा दृश्य और समस्त सृष्टि समाप्त हो जाएगी। स्वप्न के अन्य सब लोगों का सम्बन्ध मात्र स्वप्न की देह से होता है। अब दूसरी सृष्टि में उसकी देह भी पृथक् होगी और उस पर आधारित जगत भी दूसरा होगा, जिसका पहले वाले दृश्य से कोई सम्बन्ध नहीं होगा। देह **'मैं'** हूँ तो जगत भी **'मैं'** हूँ अर्थात् इस देह रूप में **'मैं'** उस स्वप्न में नहीं था, लेकिन मैं था अवश्य, क्योंकि मुझे स्मृति है। **'मैं'** न तो स्वप्न वाली देह हूँ और यह देह जो उस स्वप्न का वर्णन कर रही है, यह देह भी मैं नहीं हूँ। **अगले स्वप्न में जो दृश्य आएगा उसका दृष्टा भी मैं हूँ, लेकिन देह रूप में नहीं।** इसका प्रमाण यह है, कि मैं अभी-अभी स्वप्न में वह देह था, जिसके पैर से खून बह रहा था। उस स्वप्न वाली देह का वर्णन मैं इस तथाकथित जाग्रत देह में कर रहा हूँ। इस देह पर आधारित सृष्टि का उस देह और उस सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस दृश्य में वह देह थी, जिसके पैर में चोट लग जाने से खून बहा था और उस दृश्य का आधार वह देह ही थी। अब इस दृश्य का आधार यह देह है और इस देह और उस देह पर आधारित सृष्टि का पहले वाली देह और उस देह पर आधारित सृष्टि से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। दृष्टा वही है, स्रष्टा भी वही है, लेकिन सृष्टि परिवर्तित हो गई।

'मैं' दृष्टा हूँ, मैं उस स्वप्न का दृष्टा था। अब तथाकथित जागकर वर्णन करने पर मैं इस दृश्य का दृष्टा हूँ और मैं आगे आने वाले दृश्य का भी दृष्टा हूँगा। उसमें मेरी देह और उस पर आधारित सृष्टि दूसरी होगी।

यह **'गा'**, **'था'** और **'है'** हम देह के आधार पर कहते हैं, क्योंकि देह बदल रही है। जीवात्मा स्वरूप में प्रविष्टि के बाद **'मैं'** केवल दृष्टा है। जीवात्मा **'था'** अथवा **'गा'** क्यों लगाएगा। जीवात्मा तो कालातीत है, अकाल है। जब देह नहीं थी, तो जीवात्मा **'है'**, देह नहीं रहेगी, तो भी जीवात्मा **'है'।** देह मध्य से हट जाए तो **'मैं'** जीवात्मा **हूँ**, यही **'सद्'** रहेगा। **अपने जीवात्मा स्वरूप की अनुभूति होने के बाद भी जीवात्मा देह के सान्निध्य में आने के कारण 'गा' 'था' और 'है' काल की तीन विधाओं से युक्त सा हो जाता है।** देह काल में है और जीवात्मा अकाल है। जीवात्मा का भूत, भविष्य व वर्तमान नहीं है। देह के विभिन्न सुख लेते हुए जब यह जीवात्मा कभी दुःखों व कष्टों से ग्रसित होता है, तो अपने विशुद्ध स्वरूप के लिए छटपटाता है। उस स्वरूप की स्मृति नहीं जाती, क्योंकि स्मृति तो देह की है ही नहीं। स्मृति जीवात्मा की है।

जब जीवात्मा को अपने स्वरूप की अनुभूति हो जाएगी, तो यह देह से हट जाएगा। देह और उस पर आधारित जगत इसके लिए दृश्य बन जाएँगे और यह उस स्रष्टा द्वारा रचाए गए प्रत्येक दृश्य का आनन्द लेगा। **हर दृश्य और दृष्टा-भाव इसका मनोरंजन होगा।** जो कुछ दृश्यमान है, वह सब माया है। **योगमाया ईश्वर से मिला देती है, बशर्ते कि आपके और ईश्वर के मध्य देह न आए, आप थोड़ा हटकर दोनों का आनन्द लें।** यह समस्त सृष्टि शिव से शक्ति का मायिक प्रकाट्य है। यह माया रूप में दृश्यमान जगत शिव-शक्ति क्रीड़ा है, जो शक्ति का प्रकाट्य सा है। शिव से शक्ति कभी पृथक् नहीं होती। वर्ष में दो बार नवरात्र में हम पराशक्ति का पूजन करते हैं और महामाया से प्रार्थना करते हैं कि यह जो निर्माण, पालन व संहार हो रहा उसे मैं अति आनन्दपूर्वक देखूँ:—

''देहि मे सौभाग्यं, आरोग्यं, देहि मे परमम् सुखं,
रूपं देहि, जयं देहि, यशो देहि, द्विषो जहि।''

माँ महामाया की कृपा के बिना मैं इसका आनन्द नहीं ले सकता। जब माँ महामाया की कृपा होगी तो हम शिव के समस्त खेल का आनन्द लेंगे।

शक्ति के 108 स्वरूप हैं, जो देह रूप में पराशक्तियों का प्राकट्य है।

अतः स्मृति जीवात्मा की है और हमें देह के मध्य में आ जाने के कारण भ्रम हो जाता है, कि यह बुद्धि की स्मृति है। **जैसे ही हम स्मृति बुद्धि की मान लेते हैं, वहीं से हमारी विवेक, मेधा, प्रज्ञा, ऋतम्भरा चारों दिव्य बुद्धियाँ आच्छादित हो जाती हैं। जब जीवात्मा को अपना ईश्वर स्वरूप नज़र आ जाता है, देह व देह पर आधारित जगत बीच से हट जाता है तो ये सभी दिव्य बुद्धियाँ अनावृत् होकर जाग्रत हो जाती हैं। वह देह ही समस्त साकार सृष्टि में निराकार जीवात्मा का साकार में प्रतिनिधित्व करती है।**

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(29 और 31 मार्च 2006)

देहाभास एवं देहाध्यास

जीवात्मा दृष्टा है, वह शिव-अंश है, ईश्वर का इकलौता मानस-पुत्र है। ईश्वर की ही भाँति वह भी अदृश्य और निराकार है। समस्त सृष्टि साकार और दृश्यमान है। ईश्वर स्रष्टा है, चेतन है और जीवात्मा भी चेतन है, लेकिन सृष्टि अवचेतन है, मायिक है। सारी सृष्टि दो पक्षों की क्रीड़ा है–**मेरी देह और उस पर आधारित जगत। जब 'मैं'कहता हूँ, 'मेरी देह' उस समय मैं देह की अवचेतना में होता हूँ, 'मैं' चेतना में नहीं होता।** जब भी मैं देह की अवचेतना में होता हूँ, उसी समय मेरे सम्मुख जगत भी खड़ा हो जाता है। दोनों साथ-साथ प्रकट होते हैं। **'मैं'** जिस क्षण में स्वयं को साकार देह के नाम-रूप की अवचेतना में पहचानता हूँ, उसी क्षण साथ ही साथ सम्पूर्ण साकार जगत भी प्रकट हो जाता है। **अतः देह की अवचेतना के साथ जगत भी अवचेतना में है।** जब मेरे लिए देह की अवचेतना समाप्त हो जाती है, तो देह के साथ-साथ जगत भी समाप्त हो जाता है। **अतः समस्त साकार दृश्यमान सृष्टि मेरी एक देह की अवचेतना में है, लेकिन उसका स्रष्टा और दृष्टा दोनों ही अदृश्य, निराकार व चेतन हैं।**

यह दृष्टा जीवात्मा, उस स्रष्टा व उसके द्वारा रचाई सृष्टि का महा प्रशंसक, उसके प्रत्येक रहस्य का ज्ञाता, उसके हर दृश्य को कौतूहलपूर्वक देखने वाला, आनन्दघन, सहज सुखराशि तथा स्वयं में बल-बुद्धि-विद्याहीन, असमर्थ, अशक्त और तन-मन-धनहीन है। **'मैं'** यह दृष्टा विशुद्ध जीवात्मा ही है। जगत में **'मैं' भी** हूँ और जगत का आधार **'मैं' ही** हूँ। **जब तक मैं देह रूप में हूँ यानि देह की अवचेतना में हूँ, तो जगत का खेल चलता**

रहता है। इस जगत में कोई आ जाए या चला जाए, मर जाए या पैदा हो जाए, मेरे लिए जगत का खेल तब तक चलता रहता है, जब तक मैं देह की अवचेतना में होता हूँ। खेल दो पक्षों में चलता है। दूसरा एक देह और उस पर आधारित जगत। जितनी चराचर सृष्टि है, इसका निर्माण, पालन व संहार पंच-प्राण-पुंज सच्चिदानंद ईश्वर की क्रीड़ा है, जिसका प्रकाट्य पंच-महाभूतों में होता है। यह सृष्टि महाचेतना में हुई शिव-शक्ति क्रीड़ा का मायिक प्रकाट्य है। मायिक होने के कारण सृष्टि अवचेतन है तथा इसका स्रष्टा ईश्वर व दृष्टा जीवात्मा दोनों चेतन हैं। ईश्वर की यह माया भी अनंत है, जिसका सम्पूर्ण संचालन शिव के हाथ में है। सम्पूर्ण मायिक सृष्टि निराकार की क्रीड़ा का साकार में प्रकाट्य है। **इस साकार सृष्टि में जीवात्मा को दी गई एक देह और उस पर आधारित जगत है, जो समय-समय पर विभिन्न मानसिक स्थितियों का द्योतक है।** इसकी चौरासी लाख मायिक विधाएँ हैं। जीवात्मा को दी गई एक नाम-रूप की देह सम्पूर्ण सृष्टि का आधार है, जिसमें वह देह **भी** है (**साकार**) और दूसरी जो देह **ही** है वह उस समस्त सृष्टि तथा उस देह **भी** का आधार है (**निराकार**) है। जीवात्मा साकार और निराकार दोनों में अखण्ड आनन्द और सहज सुखराशि है।

चेतन जीवात्मा परमात्मा स्रष्टा के संकेत पर नाम-रूप की अवचेतना की देह को धारण करता है। जिससे वह स्रष्टा द्वारा रचाई गई सृष्टि का आनन्द ले सके, उसकी वाह-वाह कर सके। यह **देहाध्यास** वाली नाम-रूप की दृश्यमान **स्थूल** व **साकार देह** है, जो समस्त साकार सृष्टि का आधार है। इसको क्षणिक झपकी आ जाए तो समस्त सृष्टि का लय हो जाता है। दूसरी वह देह है, जिसमें **'मैं' ही 'मैं'** हूँ। यह **देहाभास** वाली अदृश्य व निराकार सूक्ष्म देह है, इसमें अदृश्य रूप से **'मैं' भी** वाली एक नाम-रूप की देह और उस पर आधारित सारा जगत अदृश्य और निराकार अंकित है। इसी से समस्त साकार सृष्टि समय-समय पर प्रकट होती है। जब-जब जीवात्मा नाम-रूप की Consciousness में आएगा तब-तब इसी सूक्ष्म व निराकार अदृश्य देह से साकार दृश्यमान सृष्टि प्रकट होती है।

मैं अपनी बात को पुष्ट करने के लिए छोटा सा उदाहरण दूँगा। कमरे में अँधेरा हो तो हम बल्ब जलाते हैं, तो उसके प्रकाश में वह बल्ब भी नज़र आएगा और सम्पूर्ण कक्ष व उसमें पड़े विभिन्न उपादान भी नज़र आएँगे। उस बल्ब को जो स्वयं प्रकाशित होता है और सम्पूर्ण कक्ष को भी प्रकाशित करता है, उसे देखने के लिए स्विच ऑन करना होगा। **चाहे बल्ब कितने भी वॉट का हो, जब तक वह जलेगा नहीं तब तक बल्ब को बल्ब भी नज़र नहीं आएगा।** अतः संसार महानाट्यशाला की सम्पूर्ण दृश्यमान क्रीड़ा का मुख्य स्विच मेरी निराकार अदृश्य सूक्ष्म देह में है। मेरी यह देह अनुभूतिगम्य है, नज़र नहीं आती। मैं सो जाऊँ, मूर्च्छित हो जाऊँ, मर जाऊँ, विस्मृति में होऊँ तो साकार देह के नाम-रूप की अवचेतना में नहीं होता, इसलिए देह रूप में **'मैं'** भी नहीं होता, लेकिन **'मैं'** होता हूँ। वह मेरी सूक्ष्म देह होती है। यहीं से नाम-रूप की अवचेतना का स्विच ऑन होता है, तो समस्त दृश्यमान साकार सृष्टि मेरे लिए प्रकट हो जाती है, जिसमें मेरी एक नाम-रूप की स्थूल देह भी होती है और उस पर आधारित जगत भी होता है। सम्पूर्ण सृष्टि का आधार यह सूक्ष्म देह **ही** सम्पूर्ण सृष्टि और उस स्थूल देह का आधार भी है। इस प्रकार मेरी स्थूल व सूक्ष्म दो देह हो गईं। यह तथ्य प्रत्येक मानव के लिए सत्य है।

अध्यात्म के गहरे सागर में उतरने के लिए पहले सम्पूर्ण सृष्टि जिसमें मेरी स्थूल देह भी है, उसका दहन कर, जो उस देह और उस पर आधारित जगत का आधार है देह ही है, उसमें स्थित होना अपेक्षित है। जो सृष्टि वाली एक देह है, वह मेरा **देहाध्यास** है और दूसरी उस एक देह सहित समस्त सृष्टि का आधार वाली देह **ही** है, वह मेरा **देहाभास** है। सृष्टि और सृष्टि का आधार देह जब **ध्यान-अग्नि** अथवा **ज्ञान-अग्नि** से प्रज्ज्वलित होती है तो जो इस सृष्टि का आधार देह **ही** है, जिसमें देह सहित समस्त सृष्टि निराकार में है, वह बच जाती है। **यह देह अदृश्य है लेकिन इस देहाभास वाली निराकार व अदृश्य देह का आभास मुझे जन्मों-जन्मान्तरों से है।** यही देह जन्मों-जन्मान्तरों में नए-नए रूप धारण करती है,

नया जगत बनता है, विभिन्न नाम-रूपों में नए सम्बन्ध बनते हैं। अलग-अलग नाम-रूपों में कलाकार वही होते हैं। निर्माता-निर्देशक वही स्रष्टा रहता है और नया नाटक प्रारम्भ हो जाता है। देहाभास वाली देह पुनः एक देह और उस पर आधारित सृष्टि के साकार रूप में प्रकट होती है और दुर्भाग्यवश होश सम्भालते ही उस देह के साथ जीवात्मा को पुनः **देहाध्यास** हो जाता है।

लय-योग और भस्मी-योग से **देहाध्यास** तो चला जाता है, क्योंकि भस्माध्यास हो जाता है। लेकिन भस्माध्यास से देहाभास नहीं जाता। जब तक देहाभास नहीं जाएगा तब तक **'मैं'** जन्म-मृत्यु के चक्कर से मुक्त नहीं हो सकता। जन्म-मृत्यु जो हैं ही नहीं। महापुरुष जब लीला करने के लिए देह धारण करते हैं, तो जन्मते-मरते से प्रतीत होते हैं, वे भी विभिन्न सम्बन्धों में विचरते हैं, लेकिन स्वयं में वे सम्बन्धातीत होते हैं। **जीवात्मा की चेतना में युगों-युगान्तरों से अंकित देहाभास जब तक भस्माभास में परिवर्तित नहीं होता, तब तक वह जन्म-मरण धर्मा जीव बना रहता है। देहाध्यास** से पहले जीवात्मा को **देहाभास** हुआ। देहाध्यास सीधा नहीं हुआ। इस प्रकार **'देहाभास'** वाली देह और **'देहाध्यास'** वाली देह पृथक्-पृथक् हैं। जो मेरी सूक्ष्म देह है, वह देहाभास में है। वह देह निराकार व अदृश्य है और सबकी एक ही है। **'मैं' भी** हूँ वाली देह 'अनेकों में एक' है (स्थूल देह) और **'मैं' ही** हूँ वाली सूक्ष्म देह 'एक में अनेकों' समेटे है।

All in one and one in all. **'मैं' ही**–एक में अनेकों को आत्मसात् किए है। सब आप में हैं और आप सबमें हैं। **'मैं' भी**–'अनेकों में एक' है **यहाँ जो अनेकों में एक है वह अनेकों की तरह नहीं है।** जब यह सत्य आत्मसात् हो जाता है, कि समस्त चराचर जगत की क्रीड़ा मेरी एक देह और उस पर आधारित जगत में चल रही है, जिसका आधार **'मैं' ही** हूँ, तो **'मैं'** अपने उस जगत में स्वयं में सबसे पृथक् व अद्वितीय होता हूँ।

उस स्रष्टा की बनाई सृष्टि का तब आप एक देह-रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं। मानव-देह धारण करके यह जानना आवश्यक है **कि 'मैं' कौन हूँ, मेरे अधिकार क्या हैं, मेरा स्वभाव क्या है और मेरी हैसियत क्या है?** ईश्वर

को पाना चाहते हैं, तो पहले स्वयं को तो पहचान लें। पहले स्वयं को सिद्ध कर लीजिए। अपने विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप की सिद्धि करके ईश्वर को अपना परिचय दीजिए, कि तुम्हारी बनाई सृष्टि में **'मैं' भी** हूँ, जिसमें देह रूप में ही इस सारी सृष्टि का प्रतिनिधि हूँ। तुम स्रष्टा हो और तुम्हारी बनाई सम्पूर्ण महासृष्टि का एकमात्र **'मैं'** देह रूप में प्रतिनिधित्व कर रहा हूँ।

आप स्वयं में परिपक्व हो जाएँ, कि देह-रूप में आप कौन हैं? **'मैं'** और **'मेरी देह'** से प्रस्तुत और अधिगृहीत जगत दोनों **'मैं'** हूँ, जिसमें **'मैं' भी** हूँ और जिसका आधार **'मैं' ही** हूँ। यदि देह रूप में **'मैं'** नहीं हूँ, तो उस स्रष्टा की सृष्टि का मेरे लिए कोई खेल भी नहीं है। समस्त साकार सृष्टि का आधार मेरी एक साकार देह की अवचेतना है, जिस पर यह समस्त मायिक प्रपंच टिका है। **'मैं'** अनेकों में एक हूँ और वह एक व्यष्टि-समष्टि दोनों को समेटे हुए है। क्योंकि यह सृष्टि ईश्वर ने मेरे लिए बनाई है। खुदा के दरबार में खुदा बनकर जाइए। जो **'मैं' ही** हूँ, **वह मेरी निराकार व अदृश्य सूक्ष्म देह है। वह मेरा देहाभास है।** इसमें मेरी देह और उस देह पर आधारित, प्रस्तुत व अधिगृहीत जगत दोनों हैं। **जो मेरी एक देह भी है, वह मेरा देहाध्यास है।** पंच-महाभूतों में मात्र अग्नि को शिव ने यह अधिकार दिया है, कि तुम पंच-महाभूतों की देह को अपने समेत पंच-महाभूतों में विलीन कर सकती हो। अतः ज्ञान-अग्नि और ध्यान-अग्नि द्वारा यह जो देह **भी** है, उसका प्रज्ज्वलन सद्गुरु-कृपा से सद्शिष्य करता है। तो वह जो देह **भी** है, जो साकार है, वह पंच-महाभूतों में विलीन हो जाती है, आपको भस्मी का दिग्दर्शन हो जाता है तथा सद्गुरु-कृपा से आपका **'देहाध्यास' 'भस्माध्यास'** में परिवर्तित हो जाता है। तब देह के आधार पर प्रस्तुत और अधिगृहीत जो जगत है, उसका भी लय हो जाता है और आपको विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। इस स्थिति में जीवात्मा को विशेष शान्ति मिलती है, स्थिरता का अद्वितीय अनुभव होता है। प्रभु में मन लग जाता है, उसमें ब्रह्मचिन्तन चलता है। उस वक्त वह देहाभास वाली देह में होता है। कुछ देर के लिए प्राकृतिक रूप से वैर-वैमनस्य, ईर्ष्या-द्वेष, तनावों, सम्बन्धियों की समस्याओं आदि से

मुक्त हो जाता है। अद्भुत् शान्ति मिलती है, यह जीवात्मा की **'एकान्त'** की स्थिति है। इस एकान्त की स्थिति का अनुभव देहाभास वाली देह करती है। उस स्थिति में जीवात्मा का अपने सद्गुरु व इष्ट से सीधा सम्पर्क हो जाता है, कई ईश्वरीय प्रेरणाएँ मिलती हैं। ईश्वरीय प्रेम जाग्रत होता है, सद् अनुभूतियाँ व सद्चिन्तन होता है, अश्रुपात होता है, क्योंकि वह देह और देह पर आधारित जगत के अध्यास से मुक्त हो जाता है। उस समय उसका आत्म-स्वरूप जाग्रत हो जाता है। वह आत्म-स्वरूप जो निराकार है, जिसमें देह और देह पर आधारित समस्त सूक्ष्म जगत निराकार व अदृश्य रूप से समाहित रहता है। कुछ देर के लिए जीवात्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में स्थित हो जीव-भाव से मुक्त हो जाता है।

कुछ देर के बाद समाधि अवस्था से बाहर आने पर जीवात्मा पुनः ज्यों का त्यों हो जाता है क्योंकि भस्माध्यास से उसका देहाध्यास तो समाप्त हो गया, लेकिन **'देहाभास'** नहीं समाप्त हुआ। वह जो **'मैं' ही** हूँ देहाभास है, जिसमें उसका समस्त सूक्ष्म-मण्डल है, तथा एक भौतिक देह व उस पर आधारित समस्त ब्रह्माण्ड अदृश्य रूप में समाहित रहता है। उससे देह पुनः प्रस्तुत होती है। किस नाम-रूप में होगी वह नहीं जानता। मृत्योपरान्त यही देहाभास वाली देह ही नया रूप धारण करती है। यह आपकी सूक्ष्म देह है। यह पिण्ड है, जो निराकार है। इसी के लिए गुरु महाराज ने कहा है:—

''जो ब्रह्माण्डे सो पिण्डे।''

इसलिए ध्यानावस्था से बाहर आने पर देहाभास वाली अदृश्य देह का साकार खेल फिर शुरू होता है, जिस खेल में जीवात्मा को दी गई एक देह और उसके द्वारा प्रस्तुत और अधिगृहीत जगत, दोनों रहते हैं। **'देहाभास' वाली देह मूल है, जिससे देहाध्यास का वृक्ष पुनः हरा-भरा हो जाता है।** हालाँकि आप अब पहले जैसे दुःखी, त्रसित व भयभीत नहीं रहते। आपमें वैर-वैमनस्य, राग-द्वेष व ईर्ष्या-जलन पहले जैसी नहीं रहती, आपका स्वभाव शान्त हो जाता है। इस **'देहाभास'** की समाप्ति मात्र **'भस्माभास'** से होगी। **भस्माभास ही देहाभास का निर्मूलन करेगा।** कोई भस्मीयोग, लययोग इस

देहाभास को समाप्त करने में सहायक नहीं होता। **ज्ञान-अग्नि, ध्यान-अग्नि उसे जला नहीं सकती, क्योंकि अग्नि तो पंच-महाभूतों की दृश्यमान देह को जलाती है और पाँचों महाभूत अपने-अपने स्वरूप में लय हो जाते हैं तथा भस्मी प्रकट हो जाती है। यह देहाभास वाली देह तो अदृश्य और निराकार है, यह पंच-महाभूतों से परे है। इसलिए ज्ञान-अग्नि अथवा ध्यान-अग्नि सब यहाँ असफल हो जाती हैं।** बात पल्ले भी पड़ जाती है, समझ में भी आ जाती है, लेकिन देहाभास रहने के कारण नाम-रूप की सृष्टि के दृश्यमान होते ही पुनः देहाध्यास हो जाता है। **आपकी चेतना में भस्माध्यास होने से देहाध्यास उन क्षणों में छूट जाता है, लेकिन देहाभास नहीं छूटता। यह देहाभास, भस्माभास से ही छूटेगा।**

'भस्माभास' होना अति दुर्लभ है इसके लिए मात्र महामाया पराशक्ति की कृपा अपेक्षित है। **जीवात्मा की पक्की जकड़ देहाभास वाली देह है।** जीवात्मा भी निराकार और अदृश्य है और देहाभास वाली देह भी निराकार और अदृश्य है। जीवात्मा की चेतना में देहाभास की जकड़न युगों-युगान्तरों से पल रही है। जीवात्मा और इस देह दोनों का कोई नाम-रूप नहीं है, दोनों अकाल हैं। दोनों धर्मातीत, देशातीत, सम्बन्धातीत, लिंगातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत हैं। दोनों का अन्तर केवल इतना है, कि जीवात्मा **ईश्वर-सम्मुख** है और यह देहाभास वाली देह **ईश्वर-विमुख** है। यह देहाभास वाली देह **ही** सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड जिसमें जीवात्मा की एक नाम-रूप की देह **भी** है, उसका आधार है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का Main Switch यही है। जीवात्मा ईश्वर-सम्मुख था और ईश्वर-विमुख देहाभास में अपना रूप ढूँढने लगा। **दोनों का सब कुछ अधिकतर मिलता-जुलता था, लेकिन ईश्वर-विमुखता का कुसंग ईश्वर-सम्मुख जीवात्मा को लग गया और यह पुनः पुनः देहाध्यास में जन्मों-जन्मान्तरों में भटकने लगा।** देहाभास वाली देह और जीवात्मा में 100 में 99 नम्बर एक से ही थे, लेकिन जो एक बिन्दु ईश्वर-सम्मुखता का था, वही तो मुख्य था। यदि वह यहाँ ईश्वर-विमुख न होता तो देहाभास क्यों होता और स्वयं में ईश्वर-सम्मुख न होता तो

ईश्वर-अंश जीवात्मा कैसे होता? जितना चाहे भस्माध्यास कर लो, भस्मीयोग से लययोग में एकान्त की स्थिति में प्रविष्टि पा लो, लेकिन जैसे ही उस स्थिति से बाहर आएँगे, तो देहाभास पुनः देहाध्यास में परिवर्तित हो जाएगा।

इसके लिए उस एक देह के ही निश्चित, परिलक्षित भविष्य भस्मी को आत्मसात् कर भस्माध्यास की स्थिति में आर्तनाद करना होगा, कि ''प्रभु! **'मैं'** बार-बार देह व जगत को खोता हूँ। इसका तो मैं क्या ग़म करूँ! मैं तुम्हें खो चुका हूँ। 'त्राहि माम्', 'त्राहि माम्' मुझे बस इसका ग़म लगा दें।'' यह प्रार्थना तब करें, जब देह और देह पर आधारित जगत का लय हो जाए। ''प्रभु! मैं जन्मों-जन्मान्तरों में देह और देह पर आधारित जगत के लिए रोता रहा हूँ, लगभग अन्धा हो चुका हूँ। इतने भ्रमों में भटकता रहा हूँ, कि अमुक मेरा मित्र है, अमुक मेरा पुत्र है। तो इन सभी भ्रमों को समाप्त करके बस एक भ्रम दे दे, कि तू मेरे बहुत समीप है।'' **देहाध्यास छूटने पर ही यह प्रार्थना हो सकती है।** देहाभास वाली देह से जीवात्मा यह प्रार्थना करता है, कि ''प्रभु! मैं तुझे खो चुका हूँ। इसलिए तू मेरा है, मेरे पास है, यह भ्रम दे दे। मैं इसी भ्रम में जिऊँ और इसी में मरूँ और फिर इसी भ्रम में मेरा पुनर्जन्म हो। देहाध्यास में भ्रमित ही रहा हूँ, कि 'मैं यह देह हूँ, यह देह मेरी है' तो अब मुझे देहाभास में यह भ्रम दे दो, कि तुम मेरे बहुत नज़दीक हो।'' देहाभास में ईश्वर-विमुखता ही बहुत बड़ा व एकमात्र दोष था। **यह प्रार्थना उस ईश्वर-विमुखता में सम्मुखता का बीजारोपण है।** संसार तो कभी रहा नहीं, इसे खोने का ग़म **'मैं'** क्या करूँ! तू मेरी स्थिति देख, कि मेरा तू भी नहीं रहा और मैं अब तुझे कभी पा नहीं सकूँगा। यह जो मेरा इतना बड़ा नुकसान हो गया है, उसका ग़म तू मुझे दे दे। हालाँकि दोष तो मेरा ही है, **लेकिन तू मेरे ऊपर दया कर और अपने खोने का मुझे ग़म दे दे। प्रभु! मुझे उस गम में रोने के लिए अश्रु दे दो, मुझे और तुमसे कुछ नहीं चाहिए।''**

रोते-रोते आर्तनाद करते हुए यह प्रार्थना जब जीवात्मा करता है, तो कभी न कभी महाकृपालु महामाया कृपा करती है और देहाभास, भस्माभास में परिवर्तित हो जाता है। जब भस्माभास होगा तो देहाभास छूटेगा।

देहाभास आपकी अदृश्य देह है, जो सारे महाब्रह्माण्ड की एक ही है। **वही सारे ब्रह्माण्ड की देहों, जिसमें आपकी देह भी है, उसका मूल आधार है।** जीवात्मा और उस देह में मात्र इतना अन्तर है, कि जीवात्मा ईश्वर-सम्मुख है और वह ईश्वर-विमुख है। जीवात्मा, देहाभास वाली देह में ही फँसा क्योंकि शेष गुण दोनों के एक ही थे। **ईश्वर-विमुखता का संग-दोष जीवात्मा को भी लग गया और जीवात्मा ने जब भी स्वयं को किसी देह के साथ पाया वह देहाभास ही देहाध्यास में बदल गया और जीवात्मा एक नाम-रूप की देह में तुच्छ सा जीव बन गया।** उस देह के साथ जगत बनाता है, फिर भस्मी बनती है, फिर देह लेता है और पुनः जीव-सृष्टि बनाती है। भस्मी को चाहे गंगा में डालो या यमुना में, देह चली जाती है, लेकिन **'देहाभास'** इसकी चेतना में अंकित हो जाता है। **युगों-युगान्तरों से विभिन्न जन्मों-जन्मान्तरों में विभिन्न देहों में यह अपना मूल स्वरूप खोज रहा है।** आपके समस्त पुरुषार्थ कर्म, यज्ञ-हवन, जप-तप, दान-पुण्य, लययोग-भस्मीयोग आदि आपको कुछ देर के लिए देहाध्यास से मुक्त कर देंगे, **लेकिन देहाभास में आपकी अपनी कोई पहुँच नहीं है। आप वहाँ सिर्फ आर्तनाद करके रो सकते हैं। उस देहाभास वाली देह का आप समर्पण भी नहीं कर सकते क्योंकि वह निराकार व अदृश्य है।**

भस्माध्यास से वैराग हो जाता है, लेकिन वैराग सिद्ध तब होता है जब देहाभास, भस्माभास में परिवर्तित होता है। पराशक्ति माँ पार्वती की अकारण कृपा से ही भस्माभास सम्भव है। पराशक्ति शिव की संगिनी है। शिव के साथ ही रहती है और शिव की इच्छा से ही रूप बदलती रहती है। भक्तों की मनोवांछित कामनाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न रूप धारण करती है। इस पराशक्ति का प्रमाण-पत्र भस्माभास के लिए परमावश्यक हैः–

''ज्ञान वैराग सिद्धयर्थं भिक्षां देहि मे पार्वती।''

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(3 और 4 अप्रैल, 2006)

'मैं'

(भाग 1)

पंच-महाभूतों की देह में भस्मी अदृश्य रूप से कण-कण में समाहित है। यह अदृश्य भस्मी शिव की अति शक्ति वैराग का प्रतीक है, जो इन पंच-महाभूतों के संगम का कारण है। यह भस्मी प्रकट तब होती है जब देह पंच-महाभूतों में विलीन हो जाती है। मेरे लिए वह अदृश्य भस्मी, अदृश्य ही रहती है। भस्मी मृत्यु के बाद प्रकट होती है और मृत्यु कब होगी, यह कोई नहीं जानता। **भस्मी के प्रकट होने से पहले देह को मृत्यु से गुज़रना पड़ेगा।** वह मृत्यु जो **'मैं'** ने कभी नहीं देखी, अतः भस्मी के प्रकाट्य व दिग्दर्शन के लिए देह को मृत्यु से गुज़रना अनिवार्य है।

मृत्यु क्या है? **मृत्यु सुषुप्ति की भाँति एक मानसिक स्थिति है, जिसमें 'मैं' (जीवात्मा) अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना में नहीं होता।** सुषुप्ति और मृत्यु में अन्तर मात्र इतना है, कि सुषुप्ति के बाद **'मैं'** पुनः अपने नाम-रूप की अवचेतना में आ सकता हूँ, जबकि मृत्यु के बाद वह देह निष्प्राण हो जाती है। अग्नि-दहन द्वारा पाँचों महाभूतों में विलीन कर दी जाती है और वह अदृश्य भस्मी प्रकट हो जाती है। इसलिए सुषुप्ति का मुझे कोई भय नहीं होता, जबकि मृत्यु का भय होता है। कोई यदि सोना चाहता है, तो हम उसके लिए समुचित व्यवस्था करते हैं, ताकि वह निर्विघ्न सो सके। लेकिन यदि कोई मरना चाहता है, तो हम उसे रोकते हैं। मृतकावस्था की भाँति सुषुप्ति में भी किसी का कोई नाम-रूप, देश-काल, धर्म-कर्म, पति-पत्नी, सन्तान, कर्तव्य, लिंग, जाति, डिग्री, पोस्ट, धन-सम्पदा, जायदाद,

आस-पड़ौस आदि नहीं रहते, लेकिन सब आश्वस्त होते हैं, कि सुषुप्तावस्था से जाग्रतावस्था सम्भव है। यदि कहा जाए, कि आप्रेशन के समय आपको मूर्च्छित किया जाएगा, तो भी उसका कोई भय नहीं होता, क्योंकि पूर्ण ज्ञान है, कि मूर्च्छावस्था की समाप्ति के बाद हम पुनः पहले वाली स्थिति में होंगे। **लेकिन मृत्यु के बाद 'मैं' फिर इस देह रूप में लौट कर नहीं आऊँगा। मुझे न यह अमुक देह मिलेगी, न उस पर आधारित जगत मिलेगा।**

यदि हम मृतकावस्था पर एकाग्र करें तो पाएँगे, कि हमें अपनी देह से अधिक चिन्ता, देह पर आधारित जगत की होती है, कि मेरे बाद मेरे बेटे का, पत्नी का, धन-सम्पदा, दुकान आदि का क्या होगा। लोग इसीलिए देह का बीमा कराते हैं, ताकि उस देह पर आधारित जगत की सुरक्षा-व्यवस्था हो सके। ऐसा लगता है, कि देह को **'मैं'** साथ ही लेकर जाऊँगा। जो देह नहीं रहेगी, उसकी चिन्ता किसी को नहीं होती। देह पर आधारित जगत की भी हमें चिन्ता नहीं होती, कि मेरे बाद मेरे सूरज, मेरे चाँद, खग, मृग, तरु, पल्लव, झरने, प्रपात, नदियों, समुद्रों, बादलों, पर्वत श्रंखलाओं आदि का क्या होगा? देह की ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभाओं, कलाओं, गुणों आदि के विषय में सोच नहीं आती, कि मेरे बाद इनका क्या होगा? जबकि भवरोग अथवा सारी समस्या का मूल **'देह'** ही है। क्योंकि जब **'मैं'** ने देह को मान्यता दी, तभी तो जगत प्रकट हुआ।

जब मुझे **देह की** मान्यता नहीं थी, तब **'मैं'** था। जब **देह ही** नहीं थी, तब भी **'मैं'** था। जब **'मैं'** माँ के गर्भ में भी नहीं आया था, तब भी **'मैं'** था। जब **'मैं'** अपरिपक्व अबोध शिशु था, तब **'मैं'** था। **'मैं'** दादी-नानी से हाथी, भालू, बन्दर की कहानियाँ सुनता था और पूछता रहता था, कि भालू का क्या हुआ होगा, चूहे ने शिकारी का जाल कैसे काटा होगा, चिड़िया अपने बच्चों के लिए दाना कहाँ से लाएगी, आदि-आदि। जब बुद्धि का विकास हुआ, तब **'मैं'** अपने को देह से पहचानने लगा कि मैं अमुक हूँ। वह देह जो मुझे मात्र अवलम्बन लेने के लिए मिली थी, जिससे मैं मायिक संसार का अधिग्रहण कर सकूँ। उससे पहले मुझे देह का अवलम्बन भी नहीं था, अतः देह का

कोई ज्ञान ही नहीं था। बाद में मुझे बताया गया, कि मैं जब एक वर्ष का था तो घर में ऐसी स्थिति थी, मैं बीमार हुआ था फिर जब दो वर्ष का हुआ तो पाकिस्तान बन गया और हम घर से बेघर हो गए। इस प्रकार जब देह की मान्यता नहीं थी, तो मुझे जगत की भी कोई मान्यता नहीं थी, लेकिन **'मैं'** था। मुझे **देहाध्यास** नहीं था, देह पर मेरा कोई **अधिपत्य** भी नहीं था। साथ ही मुझे **देहावलम्बन** भी नहीं था। क्योंकि जगत के अधिग्रहण के लिए भी मैंने इस देह का जानबूझ कर प्रयोग नहीं किया था।

बुद्धि जब तक परिपक्व नहीं हुई, यानि जब तक जीवात्मा और बुद्धि का तादात्म्य नहीं हुआ, तब तक देह की सुरक्षा, देखभाल, व्यवस्था करने वाला माता-पिता रूप में **'मैं'** ही था। **'मैं'** शिशु-देह को दूध पिलाता था, गन्दा होने पर स्वच्छ करता था, बीमार होने पर दवाई देता था। **'मैं'** किसी भी देह का अवलम्बन ले लेता था, कोई तथाकथित माँ, आया, पिता या अन्य कोई भी। एक बार मेरी शिशु-देह के पास साँप आ गया। वहाँ कोई नहीं था, जो मेरी रक्षा करता, तो **'मैं'** ही एक राहगीर के रूप में आ गया और उसकी रक्षा की। मुझे उस समय उसे धन्यवाद देने की आवश्यकता भी नहीं हुई, क्योंकि मेरा सब पर अधिकार था। **'मैं'** तो सबकी एक ही है, वह सर्वव्यापी है। जिनकी **'मैं'** विस्तृत होती है, वे देह के सम्बन्धों से नहीं बँधते, वे कभी भी, किसी भी देह का अवलम्बन ले लेते हैं।

इस प्रकार देह का पालन-पोषण माँ रूप **'मैं'** ने किया, इसको पैदा **'मैं'** ने किया, इसकी पूरी संरचना मेरे द्वारा हुई, जिसका कारण **'तू'** यानि परमात्मा था। अर्थात् देह की पूरी देखभाल, किस जगह, कब, कहाँ, कैसे रहना है, **यह सब ईश्वर ने मेरे द्वारा विभिन्न नाम-रूपों में किया।** जब देह बीमार पड़ती थी, तो **'मैं'** चिकित्सक बनता था। कभी **'मैं'** माँ बनकर इसे लोरियाँ देता था, इसे दूध पिलाता था। पिता बनकर इसके लिए धन की व्यवस्था करता था, बड़ी बहन बनकर घुमाने ले जाता था, गुब्बारे दिलाता था, खिलौने से खिलाता था, नौकर बनकर मेरी गाड़ी को धक्का देता था। मेरा गार्ड **'मैं'** ही था। इस देह के लिए **'मैं'** हवा बनकर चलता था, बादल

बनकर फुहारें बरसाता था। वसन्त ऋतु **'मैं'** बनता था, पुष्पों में पराग, खुशबू और रंगीनी **'मैं'** था। **'मैं'** चराचर जगत में किसी का भी अवलम्बन लेता था। कभी **'मैं'** गाय बनकर दूध देता था, ग्वाला बनकर दूध दोहता था, आया बनकर बोतल साफ करता था और मेरी शिशु-देह के मुँह पर लगाता था। वह जगह, वह शहर, वह हवेली **'मैं'** था। वे बाग, बगीचे, फलों से लदे वृक्ष तथा वह माली सब कुछ **'मैं'** था, परन्तु कराने वाला **'तू'** था।

देह के रूप में **'मैं'** यह नहीं जानता था, कि वह सब **'मैं'** था, जो तेरी शक्ति से कर रहा था, क्योंकि मेरी बुद्धि विकसित नहीं थी। देह के रूप में पढ़ाने वाला **'मैं'** था, पढ़ने वाला भी **'मैं'** था। यह **'मैं'** नहीं जानता था, कि कोई करवा रहा है और मैं अनेक रूपों में इतना कुछ कर रहा था। तू करवा रहा था, मैं कर रहा था। लेकिन जैसे ही बुद्धि पूर्ण विकसित हुई, मेरी **'मैं'** संकीर्ण और संकुचित हो गई। बुद्धि के परिपक्व होने से इसके सारे अधिकार छिन गए। कोई मुझे पानी भी पिलाता तो कम से कम मुझसे धन्यवाद की अपेक्षा करता था। यह देहाध्यास और देहाधिपत्य बुद्धि के तथाकथित परिपक्व व पूर्ण विकसित होने के कारण ही हुआ। अरे ! **'मैं'** इतना बड़ा हो गया, मैंने कुछ किया नहीं। एक देह के साथ तद्रूप होकर **'मैं'** भूल गया, कि अब तक जो कुछ भी हुआ है, वह विभिन्न देहों का अवलम्बन लेकर **'मैं'** ने ही तो किया है। ईश्वर ने अपनी चेतनामय बुद्धि मुझे दी, ताकि मैं देख सकूँ, कि आज तक मेरे लिए सब कुछ हो रहा था, लेकिन बुद्धि के परिपक्व न होने के कारण मैं उसकी प्रशंसा नहीं कर पा रहा था। यह बुद्धि पशुओं में विकसित नहीं होती, क्योंकि उनमें यह प्रशंसा का भाव नहीं है। इसलिए मेरी बुद्धि विकसित हुई, ताकि सोच सकूँ, कि मेरी देह के लिए जो सब हो रहा था, वह अब भी हो रहा है। मैं उसे पहचान सकूँ, इसकी अनुभूति कर सकूँ, इसकी प्रशंसा कर सकूँ, वाह-वाह कर सकूँ।

मेरी बुद्धि में ईश्वर ने अपनी चेतनता दी, क्योंकि आज तक **'मैं'** इस रहस्य को जानता नहीं था। बुद्धि के पूर्ण विकसित होने पर **'मैं'** यह जान लूँ, कि माँ के गर्भ में एक भ्रूण या बिन्दु रूप में गर्भाधान हुआ तो मेरी देह के

सब अंग बिना मेरी जानकारी के नौ महीने में बन गए। अब बुद्धि में चेतनता आने पर **'मैं'** देख लूँ, कि बुद्धि में चेतनता आने से पहले मेरी उस देह का निर्माण, लालन-पालन और विकास हुआ, वो किसी भी देह का अवलम्बन लेकर **'मैं'** ने किया। आज तक जो कुछ भी हुआ, वह मेरे लिए हुआ और जब मेरी सोच गुम हो जाएगी, तब भी मेरे लिए होगा तथा अब भी सब कुछ हो रहा है। यह सोचने के लिए मेरी बुद्धि में ईश्वरीय चेतनता विकसित हुई। इसीलिए मात्र मानव को ईश्वर ने अपनी चेतनता दी, कि तू होश सम्भाल और मेरे करिश्मों को प्रत्यक्ष देख, उनकी वाह-वाह कर। **जो चेतन सोच होगी, वही यह सोचेगी। देह के साथ सम्पृक्त होकर अवचेतना में तो व्यक्ति यही सोचेगा, कि मुझे कुछ करना चाहिए। अब मेरी बुद्धि परिपक्व हो गई है, मैं नहीं करूँगा तो मेरा व मेरे परिवार का पालन कैसे होगा?**

सारे ब्रह्माण्ड का लालन-पालन करने वाला ईश्वर है। पत्थर तोड़ो, ज़मीन खोदो तो उसमें से जीवित कीट बाहर निकल कर भाग जाता है, उसको कौन खिला-पिला रहा है? **'मैं'** मानव-देह प्राप्त करके उसका ठेका ले रहा हूँ, जिसका ठेका एक कीड़ा तक नहीं लेता। क्योंकि जैसे ही बुद्धि का विकास हुआ, वह ईश्वर की चेतनता थी, लेकिन देह के साथ सम्पृक्त होकर अवचेतन बन गई। उसकी **'मैं'** संकीर्ण हो गई। अपनी चेतन बुद्धि से देह का अवलम्बन लेकर देह और जगत को देखना था, कि मेरे लिए सब कुछ हो रहा है। सुबह, आकाश की रंगीनी, उषाकाल की लालिमा बनकर **'मैं'** आता हूँ, बादलों की फुहार, चन्द्रमा की चाँदनी बनकर **'मैं'** आता हूँ। खग, तरु, पल्लव, कलियाँ, फूल, शबनम, त्रिविध समीर, चहचहाते पक्षी सब कुछ बनकर **'मैं'** आता हूँ। कलकल करती नदियाँ, झरने, प्रपात बनकर **'मैं'** बहता हूँ। एक जीवात्मा क्या-क्या बनता है! **'मैं'** विशुद्ध जीवात्मा है। पशु-पक्षियों, जलचरों को यह चेतनामयी बुद्धि नहीं मिलती, इसलिए वे इस समस्त प्रकरण का आनन्द नहीं ले सकते। जब तक मेरी बुद्धि विकसित नहीं हुई थी, तब तक **'मैं'** भी नहीं ले सका और निद्रा, मृत्यु, मूर्च्छा, विस्मृति में भी नहीं ले सकता। अतः अपनी चेतनता में विकसित व परिपक्व बुद्धि से

'मैं' इसकी अनुभूति करूँ और उस स्रष्टा की वाह-वाह करूँ, यही बुद्धि की चेतनता की सार्थकता है। छोटा बच्चा यह नहीं कर सकता। इसलिए बुद्धि में ईश्वरीय चेतनता का पदार्पण एक समय में होता है।

चेतनता आते ही इस देह की अवचेतना में **देहाध्यास व देहाधिपत्य** हो गया, कि **'मैं'** देह हूँ व देह मेरी है। उस तुच्छ अहं ने मेरे महाअहं को आच्छादित करके मेरे समस्त अधिकार छीन लिए और मुझे तुच्छ बना दिया। चेतन बुद्धि में जब यह दैहिक **'मैं'** हावी हुई तो वह चेतना, देह की अवचेतना (Body Consciousness) में बदल गई। Awareness converted into Consciousness तब **'मैं'** विस्तृत जीवात्मा से नाम-रूप की एक देह में **तुच्छ सा जीव** बन गया। चेतना लुप्त हो गई और अवचेतना हावी हो गई। मैं स्वप्न-सृष्टि का उदाहरण अपने प्रवचनों में देता रहा हूँ। मैं उत्तरकाशी अपने घर में सो रहा हूँ और स्वप्न देखता हूँ, कि शिकार के लिए कुछ दोस्तों के साथ जंगल में जा रहा हूँ। अचानक मैं अकेला रह जाता हूँ, रास्ता भटक जाता हूँ और देखता हूँ, कि मेरे पीछे शेर लग गया। घबराकर मैं भागते-भागते एक पेड़ से टकरा जाता हूँ, मेरे माथे पर चोट लगने से खून निकलता है तथा मेरी नींद खुल जाती है। मैं स्वयं को अपने बिस्तर पर पाता हूँ। **यहाँ इस दृश्य में शेर, पेड़, वह जंगल तथा मेरे वे बिछुड़े साथी सब कुछ 'मैं' ही तो था।** यदि मैं स्वप्न वाली देह भी हूँ तो सब कुछ **'मैं'** ही मैं हूँ, लेकिन उसका कारण मैं नहीं हूँ। मैं उस समस्त दृश्य का दृष्टा हूँ और अब तथाकथित जागकर दूसरे दृश्य को देख रहा हूँ, जिसमें मैं उस पहले दृश्य का वर्णन कर रहा हूँ। सृष्टि में यह देह भी आती है, जिसके माध्यम से जीवात्मा सृष्टिकर्ता द्वारा रचाए गए विभिन्न दृश्यों का अधिग्रहण व प्रस्तुति करता है। स्रष्टा वही है, दृष्टा वही है, लेकिन सृष्टि बदलती रहती है। उस सृष्टि में दृष्टा जीवात्मा को दी गई एक देह और उस पर आधारित जगत दोनों उस देह के नाम-रूप की अवचेतना में है।

अध्यात्म का यह गहन रहस्य है। प्रभु-कृपा से कभी पल्ले पड़ जाए इसीलिए हमें मानव-देह मिली है। पशु और मानव-देह में भी जो नर-पशु हैं,

उनके लिए यह विषय नहीं है। मानव-देह धारण करके जब यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है, कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मुझे पृथ्वी पर क्यों लाया गया है, जो मैं कर रहा हूँ वह मेरे बिना भी हो सकता है, तो मेरा कर्तव्य क्या है? आदि-आदि जिज्ञासाएँ जब उस मानव देह-धारी को बेचैन करके अपना सब कुछ दाँव पर लगाने को तत्पर कर देती हैं, तभी उस देह से सद् का प्रकाट्य होता है।

मानव-देह में बुद्धि का तथाकथित विकास मात्र इसलिए होता है, कि चेतन बुद्धि से यह देख ले, कि आज तक उसकी देह के निर्माण, पालन-पोषण, लालन-दुलार आदि सहित जो कुछ उसके लिए हुआ है, उसमें उसकी अपनी सोच का कोई योगदान नहीं था। चेतनामयी ईश्वरीय सोच से सब कुछ होता रहा। चेतन बुद्धि की सोच ही यह सोच सकती है। वह चेतन सोच ही यह सोचेगी, कि अब भी जो ईश्वर ने करवाना होगा, वह प्रेरित करके करवा लेगा। मानव-देह में कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ आदि ईश्वर ने दी हैं, तो ईश्वर अवश्य ही स्वतः करवा लेगा, जैसेकि आज तक करवाया है। अतः चेतन सोच से मानव-देहधारी यह सोचेगा, कि तू प्रतीक्षा कर, देख वह तुझसे क्या करवाना चाहता है? हर दृश्य का संयोजन उसने किया हुआ है। उनमें परिवर्तन और विभिन्न मोड़ों के लिए जो भी आवश्यक होगा, ईश्वर स्वतः करवा लेगा। उसमें कभी उन्नति होगी, कभी अवनति होगी, कभी सुख आएँगे, कभी दुःख आएँगे, कभी लाभ होगा, कभी हानि होगी, यश होगा, अपयश होगा, मान-अपमान आदि होगा और यह सब कुछ मेरे लिए आनन्दमय होगा, क्योंकि सच्चिदानंद की सृष्टि में मात्र आनन्द ही आनन्द है। तू इन विरोधाभास की स्थितियों का आनन्द ले। इस समस्त सृष्टि का दृष्टा **'मैं'** ज्ञानी-अज्ञानी, झूठा-सच्चा, पापी-पुण्यी सब कुछ एक ही है। दृष्टा कोई भी देह नहीं है, दृष्टा जीवात्मा है, जो ईश्वर की ही भाँति सच्चिदानंद, निराकार व अदृश्य है।

महादुर्भाग्यवश मानव-देह में जीवात्मा की बुद्धि जैसे ही विकसित हुई, इसे साकार दृश्य का आधार उस एक देह के साथ अध्यास हो गया, कि 'मैं

यह देह हूँ।' इस भयंकर भूल के कारण दो घटनाएँ हुईं। एक तो यह एक देह में संकुचित हो गया और सारे जगत को अपने से पृथक् मानने लगा। दूसरे, उस सृष्टि को जो स्रष्टा द्वारा स्वतः निर्मित व पालित हो रही थी, इसने अपने द्वारा निर्मित व पालित मान लिया। इस प्रकार यह विभिन्न जन्मों-जन्मान्तरों में सुखी-दुःखी, पापी-पुण्यी बनता हुआ प्रारब्धवश आधि, व्याधि, उपाधि, मल, विक्षेप व आवरण से त्रसित होकर भटकने लगा। किसी जन्म में विशेष माता-पिता की कृपावश इसमें जिज्ञासा उत्पन्न होती है, कि **'मैं'** कौन हूँ और यह जिज्ञासा की अग्नि इसे सर्वस्व समर्पण के लिए बाध्य कर देती है। सद्गुरु के श्री चरणों में यह अपनी बल, बुद्धि, विद्या, समर्थ, शक्ति, तन-मन-धन सब कुछ समर्पित कर देता है।

अनुभूतिगम्य तत्त्वज्ञ सद्गुरु की प्रचण्डतम ज्ञानाग्नि इसकी जिज्ञासा की अग्नि को शान्त करती है। सद्गुरु उसे चेतनामयी दृष्टि देता है, कि तेरी देह के विभिन्न प्रारूप (रूप पर रूप) तेरी सोच से नहीं हुए। न तू सोच कर पैदा हुआ, न तूने अपनी सोच से अपने माता-पिता चुने, न अपनी सोच से वह जगह, काल, तिथि, ग्रह, नक्षत्र चुना, जिसमें तू पैदा हुआ। इसके बाद शैशवावस्था व बाल्यावस्था में देह के विभिन्न प्रारूपों का कारण भी तेरी सोच नहीं थी। इस प्रकार सद्गुरु इसकी अवचेतन सोच को चेतनामयी बनाता है। सद्गुरु निर्देश देता है, कि तू अपनी बुद्धि से यह सोच, कि तेरे सोचे बिना सब कुछ होता रहा है और आगे भी होता रहेगा। उसमें तुझे अपनी सोच से न अपने लिए शमशान चुनना है, न अपनी देह का अग्निदहन करना है, न भस्मी बनने पर उसे गंगा-यमुना में प्रवाहित करना है। इस **सद्** की अनुभूति के लिए मात्र चेतन बुद्धि अपेक्षित है। यह सोच इतनी शक्तिशाली है, कि अवचेतना की सोच समाप्त हो जाती है।

सद्गुरु इसकी बुद्धि को चेतनामयी करके बताता है, कि एक दिन तू भस्मी अवश्य बनेगा, लेकिन जब तेरी देह भस्मी होगी, तो तू नहीं होगा। अतः देह के रहते अपने जीते जी उस भस्मावस्था की अवधारणा कर। उस निश्चित, परिलक्षित, दर्शित को लक्ष्य बनाकर सुनिश्चित रूप से दृश्य बना

ले। जिस दिन तू स्वयं को भस्मी रूप में देख लेगा अर्थात् **'मैं भस्मी हूँ'** इसकी अनुभूति कर लेगा, तो तेरे लिए देह और देह पर आधारित समस्त जगत समाप्त हो जाएगा। तेरी विशुद्ध **'मैं'** जो सर्वव्यापी है, वह जाग्रत हो जाएगी, तू स्वयं को पा जाएगा। इस अनुभूति के लिए देह चाहिए, यही मानव-देह धारण करने का एकमात्र लक्ष्य है। युगों-युगान्तरों से **'मैं'जीवात्मा विभिन्न जन्मों-जन्मान्तरों में स्वप्न** देखता आ रहा है**। इसकी यह विशुद्ध 'मैं'** सोई ही रही है। एक बार भस्मी रूप का दर्शन करके, कि **'मैं भस्मी हूँ'** इस अनुभूति से इसका वैराग, जो शिव की अति शक्ति है, वह जाग्रत हो जाए, तो मानव-देह में मानव जीवन सफल हो जाए।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(16 मई, 2006)

'मैं'

(भाग 2)

'मैं'(जीवात्मा) वस्तुतः परमात्मा का ही प्रतिरूप तथा उसका एकमात्र मानस-पुत्र है। सुषुप्ति, मृत्यु, मूर्च्छा व विस्मृति—इन चार दैहिक स्थितियों में देह **'मैं'** (जीवात्मा) को भूल जाती है। लेकिन तुरिया समाधि, देह की वह स्थिति है, जिसमें 'मैं' (जीवात्मा) देह को भूल जाता है। **'मैं'** (जीवात्मा) और **'तू'** (परमात्मा) की दिव्य देह के रूप में अथवा अन्यथा सम्मुखता हो जाती है। इस आनन्द की स्थिति में जीवात्मा की देह होते हुए भी गौण हो जाती है। **तुरियावस्था,** 21 प्रकार की समाधियों में एक सर्वोच्च समाधि है। इसमें जीवात्मा (**'मैं'**) देह को भूल जाता है और **'मैं'** का मूल जीवात्मास्वरूप जाग्रत हो जाता है। यहाँ **'मैं'** चेतना है। जब अवचेतन देह **'मैं'** का आश्रय लेती है, तो **'मैं'** जो चेतन था, वह देह के साथ तद्रूप होकर अवचेतन हो जाता है।

जब देह **'सुख व दुःख'** की अवस्था में होती है, उस अवस्था में भी **'मैं'** (जीवात्मा) देह को भूल जाता है। लेकिन वह किन्हीं साधनों, किसी पदार्थ व परिस्थिति द्वारा निर्मित अवस्था है, जो सशर्त है। इसका कोई न कोई भौतिक कारण अवश्य होता है। चाहे कोई घटना या वस्तु हो, प्राणी या परिस्थिति अथवा इनसे सम्बन्धित कोई विधा हो। यह तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है, कि समाधि में भी **'मैं'** (जीवात्मा) देह को भूल जाता है और सुख-दुःख में भी। हम सुख-दुःख में भी देश, काल, कर्तव्य, लिंग, धर्म, कर्म, मर्यादाएँ, धारणाएँ आदि भूल जाते हैं, लेकिन यहाँ कोई न कोई ऐसा भौतिक कारण

अवश्य होता है, जो हमारी देह के नाम-रूप की अवचेतना से सम्बन्धित होता है। यदि उस कारण की बार-बार पुनरावृत्ति हो, तो उसमें सुख और दुःख की धारणा भी समाप्त हो जाती है। उदाहरणतः कोई व्यक्ति हमें बहुत दिन बाद मिला तो सुख की स्थिति बनी। हम गर्मजोशी से उसका स्वागत करते हैं और गले मिलते हैं। कुछ क्षणों के लिए आपा भूल जाते हैं। **'मैं'** ने देह को छोड़ा, लेकिन थोड़ी देर बाद मिलन का वह सुख भी अनुभव नहीं होता। एक ही ग़ज़ल बार-बार सुनने तथा एक ही प्रकार का व्यंजन बार-बार खाने पर पहले जैसा मज़ा और स्वाद नहीं देता। **इस प्रकार सुख-दुःख Conditional हैं, वस्तु अथवा परिस्थितिजन्य हैं, लेकिन आनन्द अभावमय है। इसीलिए समाधि में जब 'मैं' देह को भूलता है, तो वह आनन्द की ऐसी अवस्था है, जिसमें कोई शर्त नहीं है।**

अध्यात्म मानव-बुद्धि का विषय नहीं है, बल्कि अनुभूति का विषय है। अनुभूति को किसी प्रमाण अथवा सहारे की आवश्यकता नहीं है। **'आत्मानुभूति'** स्वयं में पुष्टि एवं **'सिद्धि'** है। वह स्वयं ही अपना प्रमाण व सत्यापन है। स्मृति देह की नहीं है, जीवात्मा की है। जहाँ देह ने **'मैं'** का अधिग्रहण किया, वहाँ **'मैं'** (जीवात्मा) अवचेतन हो गया। चेतन जीवात्मा में युगों-युगान्तरों की स्मृतियाँ हैं। **अतः 'मैं' देह के साथ तद्रूपता में अवचेतन होते हुए भी अपनी मूल छः विभूतियों (सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति व वैराग) की स्मृति रखता है। लेकिन फिर भी अवचेतना में देह व देह पर आधारित जगत के रागवश वैराग के अतिरिक्त उन पाँच विभूतियों को जन्मों-जन्मान्तरों में देह द्वारा और देह में प्राप्त करने के लिए लालायित हो जाता है।** उस भ्रमित अवस्था में भी उसे अपनी धरोहर, उन विभूतियों की कुछ-कुछ स्मृति होने के कारण, कुछ भी प्राप्त करने पर एक अज्ञात खोज, टीस व असन्तुष्टि बनी रहती है। कहाँ स्वयं में सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य व ख्याति और कहाँ इन्हें वस्तुओं व पदार्थों में खोजना ! अनेकानेक शक्तियाँ अर्जित करके भी जीव में असन्तुष्टि व भय बना रहता है। **जीवात्मा स्वयं में असीम है, अतः देह में और देह द्वारा**

प्राप्त सीमित व मायिक शक्तियों से तृप्त हो ही नहीं सकता।

दुर्भाग्यवश जीवात्मा अपने वैराग को भूल गया। यह अतिशक्ति (वैराग) वह आधार था, जिससे शिव के पंच-प्राणों की ज्योति, पंच-महाभूतों की सृष्टि के रूप में प्रकट हुई थी। शिव स्वयं, स्वतः भाव से, स्वान्तः सुखाय क्रीड़ा करता है। उसके पंच-प्राणों की महाशक्ति व वैराग रूप अतिशक्ति में क्रीड़ा होती है। शिव-शक्ति-क्रीड़ा के फलस्वरूप पंच-प्राण, पंच-महाभूतों के रूप में दृश्यमान हो जाते हैं। ये पंच-महाभूत स्वयं में सहज जड़ व निराकार हैं। इसलिए इनका क्रियान्वयन इनमें समाहित शिव की अतिशक्ति वैराग रूप, अदृश्य भस्मी से होता है। पंच-महाभूतों की सृष्टि में समस्त निर्माण, पालन व संहार का कारण शिव का वैराग है, जो पंच-महाभूतों में अदृश्य भस्मी के रूप में समाहित रहता है। यह भस्मी तत्त्वातीत तत्त्व है। तत्त्वज्ञों ने ध्यान समाधि में इसका दिग्दर्शन किया है। इसका प्रमाण यह है, कि पंच-महाभूतों से निर्मित किसी भी वस्तु, प्राण अथवा इनसे सम्बन्धित किसी विधा का अग्नि द्वारा पंच-महाभूतों में विलय होता है, तो वह अदृश्य भस्मी प्रकट हो जाती है। यह भस्मी वैराग का ही भौतिक स्वरूप है। जैसेकि **अग्नि**–प्राण प्राण, **वायु**–अपान प्राण, **पृथ्वी**–समान प्राण, **जल**–उदान प्राण और **आकाश**–व्यान प्राण का प्रतिनिधित्व करते हैं, उसी प्रकार **'भस्मी'** शिव के **'वैराग'** की प्रतिनिधि है। इस भस्मी ने ही इन पंच-महाभूतों को धारण किया हुआ है। ***'धारयति इति धर्मः'*** के अनुसार यह वैराग ही है, जो मानव-देह धारण करके जीवात्मा (**'मैं'**) का धर्म है। **जब तक वैराग नहीं होगा, तब तक भक्ति नहीं होगी। 'मैं' (जीवात्मा)** को यह रहस्य पल्ले पड़ जाए, कि राजा-रंक, ऊँचा-नीचा, गरीब-अमीर, स्वामी-सेवक सब **'मैं'** लगाते हैं। अतः **'मैं'** नाम-रूप की देह नहीं है। एक नाम-रूप की देह **'मैं'** की व्यष्टि है और उस पर आधारित जगत **'मैं'** की समष्टि है।

पंच-महाभूतों का प्रकाट्य पंच-प्राणों की ज्योति से हुआ। पंच-महाभूतों का प्रतिनिधित्व मानव-देह में पंच-ज्ञानेन्द्रियों के रूप में है। अग्नि, (दृष्टि) नेत्र का, वायु, (स्पर्श) त्वचा का, पृथ्वी, (गन्ध) नाक का, आकाश, (शब्द)

कान का और जल, (रस) जिह्वा का प्रतिनिधित्व करते हैं। पंच-महाभूतों की देह की विभिन्न अवस्थाओं में मृतकावस्था तक सब देह की अवस्थाएँ हैं। मृतकावस्था तक किसी को भी नाम-रूप में पहचाना जाता है। **भस्मी अवस्था भी, देह की अवस्था है, लेकिन वह अवस्था किसी देह विशेष की नहीं है।** पंच-महाभूतों का संगम करने वाली अतिशक्ति वैराग है, जो इन पंच-महाभूतों में अदृश्य भस्मी के रूप में समाहित है। **जब देह को वह अतिशक्ति छोड़ देती है, तो हम कहते हैं, कि देह मृतक हो गई।** प्राण निकल गए। कुछ दैहिक अवस्थाओं में प्राण होते हैं, लेकिन देह निष्क्रिय होती है और ज्ञानेन्द्रियों का कोई काम नहीं होता। सुषुप्तावस्था में देह में प्राण होते हैं, लेकिन देह बाह्य रूप से निष्क्रिय होती है, विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों की कोई अनुभूति नहीं होती। विस्मृति, मूर्च्छा, प्रगाढ़ निद्रा में जब देह **'मैं'** को भूल जाती है, तो देह में प्राण तो होते हैं, लेकिन देह निष्क्रिय होती है। मात्र मृतकावस्था में जब देह **'मैं'** को छोड़ देती है, तो उसमें प्राण भी नहीं रहते। देह पंच-महाभूतों द्वारा निर्मित है, जो शिव के **पंच-प्राणों की महाशक्ति** तथा **अति शक्ति वैराग की क्रीड़ा में प्रकट हुए थे।**

तुरियावस्था में देह का अवलम्बन लेकर **'मैं'** (जीवात्मा) देहातीत स्थिति के आनन्द में आविर्भूत होकर पुनः देह का अधिग्रहण करता है। तब वह देह भी आनन्दमय हो जाती है। देह योगी का अभिवादन करती है। इस प्रकार **'मैं'** (जीवात्मा) देह द्वारा आनन्द की अनुभूति लिए देहातीत अवस्था का स्पर्श प्राप्त कर पुनः देह का अधिग्रहण करता है। यहाँ देह सहायक होती है।

चेतन **'मैं'** को देह की विभूतियों का अहं इसलिए नहीं होता, क्योंकि वह स्वयं में महाचेतन ईश्वर का अंश है :–

''सच्चिदानंदोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

उसकी छः विभूतियाँ उसका स्वरूप हैं। ***''निराकार रूपम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''*** नाम-रूप की देह से तदरूप हुई **'मैं'** अवचेतन है। इस अवचेतना में देह व उस पर आधारित जगत में यह कुछ भी बन जाए, कुछ

भी प्राप्त कर ले, सीमित ही रहता है। यहाँ से जीवात्मा, जीव बनकर अधोगति में पतित होता चला जाता है। यहाँ देह की अधोगति तो क्या होनी थी, जीवात्मा (**'मैं'**) ही पतित हो गया। देह तो स्वयं नश्वर है, लेकिन **'मैं'** (जीवात्मा) शाश्वत् है। **व्यष्टि 'मैं'** जब तक **समष्टि 'मैं'** में समाहित नहीं होती तब तक इसका ऊर्ध्वगमन नहीं होता। समष्टि **'मैं'** के भी दो अंग हैं। प्रथम—व्यष्टि-समष्टि **'मैं'** अपने परिवार में जिनसे हम सम्बन्धित होते हैं, उन तक उसका विस्तार होता है। बेटा-बेटी, दामाद-बहू, नाती-पोते आदि से जुड़ी **'मैं' व्यष्टि-समष्टि 'मैं'** है। जैसे बच्चा माँ की गोद से गिर जाए तो स्वतः उसके मुँह से निकलता है, कि हाय मैं मर गई। यह **'मैं'** जानवरों में भी होती है। उन्हें भी अपने बच्चों से प्रेम होता है। द्वितीय—समष्टि-समष्टि **'मैं'**, ***'सर्वे भवन्तु सुखिनः'*** वाले भाव में होती है, जो समस्त चराचर जगत में अपनत्व रखती है। समष्टि **'मैं'** वैराग है। वैरागयुक्त व्यक्ति ही धार्मिक होता है। नाम-रूप की अवचेतना वाली व्यष्टि **'मैं'** ही समष्टि **'मैं'** का आधार है। व्यष्टि **'मैं'** का ऊर्ध्वगमन समष्टि **'मैं'** है। इसका प्रमाण यह है, कि इसका आधार व्यष्टि **'मैं' ही है। समष्टि 'मैं' का अधःपतन व्यष्टि 'मैं'** है और उसका आधार भी **व्यष्टि 'मैं'** ही है। **समष्टि 'मैं' और व्यष्टि 'मैं' दोनों की उन्नति या अवनति का आधार व्यष्टि 'मैं' है।** दोनों के साथ एक नाम-रूप की देह जुड़ी है।

'मैं' का अधःपतन देह के द्वैत में है, कि उसने मेरा नुकसान किया, मैं बदला लेकर रहूँगा। **'मैं'** का ऊर्ध्वगमन भी देह के द्वैत में है, कि उसका भी भला हो जाए या ***'सर्वे भवन्तु सुखिनः।'*** सभी सुखी होंगे तो मैं भी सुखी हो जाऊँगा। लेकिन दोनों में बहुत अन्तर है—पहले में देह ने **'मैं'** का अधिग्रहण किया, दूसरी स्थिति में भी **'मैं'** ने देह का अधिग्रहण किया। **जहाँ 'मैं' (जीवात्मा) व्यष्टि 'मैं' (एक नाम-रूप की देह) में विचरण करेगी, वहाँ देह 'मैं' का अधिग्रहण करेगी। यह रागयुक्त अवचेतनामयी है।** जहाँ **'मैं'** समष्टि में विचरण करेगी, वहाँ **'मैं'** देह (एक नाम-रूप की देह) का अधिग्रहण करेगी और वह विरक्त व वैरागयुक्त **'मैं'** होगी। जब हम समाज

व विश्व के कल्याण के विषय में सोचेंगे तो वह हमारी समष्टि **'मैं'** होती है। जो **'मैं'** चेतनायुक्त बुद्धि से यह सोचेगी, कि जो भी **'मैं'** देह व देह पर आधारित जगत के लिए एकत्रित करता हूँ वह तो कुछ भी नहीं रहेगा लेकिन **मेरे मरने के बाद, मेरा क्या होगा?** जहाँ यह चिन्ता हुई, वहाँ **'मैं'** (जीवात्मा) सतर्क हो जाता है और **देह व देह पर आधारित जगत के राग में नहीं रमता। यहाँ से व्यष्टि 'मैं' ही समष्टि 'मैं'** में परिवर्तित होनी शुरू हो जाती है। यह समष्टि **'मैं'** ही वैराग है, वही व्यक्ति धार्मिक है जो समष्टि **'मैं'** में विचरता है, चाहे वह स्वयं में किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय का हो। **मानव का धर्म वैराग है। बिना वैराग के भक्ति नहीं होती। भक्ति को प्रमाणित वैराग करता है। वैराग महाराग है। यहाँ 'मैं' (जीवात्मा), 'तू' (परमात्मा) से जुड़ा हुआ अद्वैत में द्वैत की स्थिति में खेलता है और समस्त साकार नाम-रूपों में अपने इष्ट की लीला का ही दिग्दर्शन करता है।**

''बोलिए सियावर रामचन्द्र भगवान की जय''

(14 जुलाई, 2006)

'मैं'

(भाग 3)

परमात्मा ने अपने द्वारा निर्मित, पालित और संहारित साकार सृष्टि के अधिग्रहण एवं प्रस्तुतिकरण के लिए अपने मानस-पुत्र जीवात्मा को रखा, जो उसी का प्रतिरूप है। **परमात्मा अदृश्य एवं निराकार है, जीवात्मा भी अदृश्य एवं निराकार है। अतः साकार प्रपंचमय मायिक सृष्टि में परमात्मा ने जीवात्मा को प्रपंच की एक मायिक देह दे दी, कि तू समय-समय पर प्रकट इस समस्त सृष्टि को इस देह का अवलम्बन लेकर और क्षणिक भ्रमित होकर देख, सुन, सूंघ, चख और स्पर्श कर तथा मेरी वाह-वाह कर।** फिर अपने विशुद्ध स्वरूप में आ जा, क्योंकि तू स्वयं में निराकार है, जो इस मायिक देह सहित सृष्टि के समस्त प्रपंच का **दृष्टा** मात्र है। **'मैं'** (जीवात्मा) उस एक देह में दृष्टा है। लेकिन दुर्भाग्यवश जीवात्मा इसे दी गई देह का सान्निध्य पाते ही स्वयं को दृश्य का अंग वह व्यष्टि देह ही मान लेता है। वह अपना समष्टिगत निराकार स्वरूप खोकर विभिन्न मायिक दृश्यों में विभिन्न जन्मों-जन्मान्तरों में उलझा है। इस प्रकार जीवात्मा अपने पद से अपदस्थ होकर तुच्छ सा जीव बना हुआ युगों-युगान्तरों से भटक रहा है।

कोई भी स्वप्न तब आता है, जब मैं सो जाता हूँ। अर्थात् जब **'मैं'** अपने निराकार स्वरूप में प्रविष्ट हो जाता हूँ, तभी मुझे कोई सपना आता है। लेकिन स्वप्न में मुझे ज्ञान नहीं होता, कि मैं सपना देख रहा हूँ। स्वप्न टूटने के बाद तथाकथित जागृति में आने से पूर्व, स्वप्न वाली देह सहित उस

समस्त सृष्टि का पूर्णतः लय होना परमावश्यक है। उसके बिना वह जागृति नहीं होगी। उस तथाकथित जागृति की अवस्था में **'मैं'** स्वयं को दूसरी सृष्टि में पाता हूँ और पहली सृष्टि को स्वप्न घोषित कर देता हूँ। यहाँ मुझमें जिज्ञासा उत्पन्न होती है, कि मैं कौन हूँ? स्वप्न वाली देह **'मैं'** हो नहीं सकता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं रात को जिस बिस्तर पर सोया था, वहीं से उठा हूँ। मैं कहीं आया-गया नहीं। लेकिन मुझे स्वप्न की घटनाओं की न केवल यथातथ्य स्मृति है, बल्कि उनके सुख-दुःख से मैं प्रभावित भी हूँ। जिस तथाकथित जाग्रत देह के सान्निध्य में मुझे उस सृष्टि के स्वप्न होने का ज्ञान हो रहा है, कहीं यह भी स्वप्न की देह तो नहीं है। कहीं यह भी मेरा स्वप्न ही तो नहीं है? यह जिज्ञासा किसी भी विवेक बुद्धि युक्त मानव में होनी स्वाभाविक है। जिस मानस से यह तथाकथित जागृति वाली सृष्टि प्रकट हो रही है, उसी से स्वप्न-सृष्टि भी प्रकट हुई थी। जब **'मैं'** सो जाता हूँ, तो **'मैं'** अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना में नहीं होता। देह होती है, लेकिन मुझे उसकी Consciousness नहीं होती। मुझमें मात्र Awareness होती है, लेकिन मैं उस Awareness के प्रति Aware नहीं होता। क्योंकि **'मैं'** देह के साथ तद्रूप होकर सो जाता हूँ। **वस्तुतः कोई भी स्वप्न-सृष्टि उस समय मेरे आनन्दमय निराकार मानस में अंकित अवस्था की पूर्ण प्रस्तुति साकार व्यवस्था के रूप में होती है। उसमें मुझे दी गई एक नाम-रूप की देह उस सम्पूर्ण सृष्टि का आधार होती है।** जब तक वह देह उस सृष्टि में होती है, तब तक मेरा स्वप्न चलता रहता है। उस एक देह के स्वप्न-सृष्टि से निकलते ही देह सहित समस्त सृष्टि लीन हो जाती है। **निराकार मानस में अंकित उस समय की अवस्था का कारण परमात्मा है और स्वप्न-सृष्टि के प्रस्तुत व लय होने का कारण भी परमात्मा ही है।** कुछ भी जीवात्मा (**'मैं'**) के हाथ में नहीं है। **जीवात्मा मात्र दृष्टा है।** मानस पुनः निराकार अवस्था में आता है और वहीं से यह तथाकथित जागृति की अवस्था वाली दूसरी सृष्टि निराकार में ही अंकित होती है, जो साकार व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत होती है। पहली सृष्टि से इस दूसरी सृष्टि का

कोई सम्बन्ध या तारतम्य नहीं होता। प्रत्येक सृष्टि तीनों कालों सहित स्वयं में पूर्ण होती है। मैं सद्गुरु-कृपा से अध्यात्म के इस गहनतम रहस्य को आप समस्त जिज्ञासुओं के समक्ष अनावृत करने का प्रयास करूँगा।

मैं शिवकुमार वक्ता के रूप में अपने घर में बैठा हूँ, कुछ श्रोता बैठे हैं, सम्पूर्ण परिवेश व देश-काल सहित यह एक घर है। प्रवचन चल रहा है—यह अवस्था रूप में अंकित मेरे निराकार मानस की सम्पूर्ण साकार व्यवस्था में प्रस्तुति है। जब मैं सो जाऊँगा तो मैं नाम-रूप से परे हो जाऊँगा। तब मेरी देह और उसके सम्बन्ध, लिंग,धर्म-कर्म, पद-प्रतिष्ठा, धन-सम्पदा आदि समस्त अलंकरण व आडम्बर समाप्त हो जाएँगे। देह है, लेकिन सुषुप्ति में मेरा मन मान्यताओं, उपाधियों, धारणाओं से रहित होने के कारण कोरे सफेद स्क्रीन की तरह हो जाता है। वहीं से स्वप्न-सृष्टि प्रकट होती है, जिसमें अवस्था रूप में एक नई देह (निराकार सूक्ष्म देह) अंकित होती है तथा व्यवस्था में स्वप्न में विभिन्न नाम-रूपों में उस अंकन की साकार प्रस्तुति होती है। उसमें मुझे दी गई नाम-रूप की देह उस सृष्टि का एक अंग मात्र ही होती है। जब ये सृष्टि समाप्त हो पूर्णतः लय हो जाती है, तब दूसरी तथाकथित जाग्रत सृष्टि में दूसरी अंकित अवस्था की व्यवस्था साकार में प्रस्तुत होती है। दोनों प्रस्तुतियों में कोई तारतम्य व लिंक नहीं होता। क्योंकि एक सृष्टि के पूर्णतः लय होने पर मानस कोरे सफेद स्क्रीन की तरह हुआ, तभी दूसरी सृष्टि प्रस्तुत हुई। सृष्टियों के निर्माण, प्रकट और लय होने का रिमोट ईश्वर के हाथ में है, वही सूत्रधार है।

कोई भी सृष्टि अंकित तब होती है, जब पहले मानस समस्त मान्यताओं से रहित होकर पूर्णतः कोरा और स्वच्छ हो जाता है। **सुषुप्ति में मानस स्वतः मान्यताओं से रहित हो जाता है। समाधि में योगी इष्ट-कृपा से अपनी देह के नाम-रूप व उस पर आधारित जगत की मान्यताओं को समाप्त करके अपने निराकार जीवात्मा स्वरूप (मानस) में प्रविष्ट हो जाता है।** किसी भी स्वप्न से जागृति के पश्चात् एक नाम-रूप की देह व जगत को अपने साथ पाकर जिज्ञासु भ्रमित होता है, कि **'मैं'** कौन हूँ। वह

आश्वस्त होने लगता है, कि देह और जगत इन दोनों से मैं पृथक हूँ।

आज तक तो मैं अपने सपने सुनाता था, लोग सुनते थे। उसके शुभ-अशुभ परिणाम भी बताते थे, लेकिन अब **'मैं'** स्वयं विचार करता हूँ कि वास्तव में यह कहानी क्या है? एक बीती हुई स्वप्न-सृष्टि जो अब बिल्कुल नहीं है, उसके सुख-दुःख से मैं अनुकूल या प्रतिकूल रूप में प्रभावित हूँ। इसी प्रकार मैं इस तथाकथित जाग्रत देह के सुखों-दुःखों में रमा हुआ हूँ। जब सो जाता हूँ, तो न सुख रहते हैं, न दुःख रहते हैं, मैं बहुत विश्राम पाता हूँ, लेकिन तब मैं क्या और कैसा होता हूँ, मैं नहीं जानता? स्वप्न-सृष्टि में जितने जड़-चेतन पदार्थ, प्राणी आदि थे, वे कहाँ से आए? सपने वाले लोगों के जन्मदिन कौन से थे। वह जो घर था, कब बना? उस सृष्टि में पाप-पुण्य, लेना-देना, मिलना-बरतना सब कुछ हुआ, सब कुछ प्रकट हुआ और अब कुछ नहीं है। जो स्वप्न में लोग थे, उन्हें मैं फोन करके पूछता हूँ, तो साफ जवाब मिलता है, कि हम आपके साथ नहीं थे। अर्थात् नाम-रूप वही होते हुए भी वे व्यक्ति वो नहीं हैं, जो मेरे साथ सपने में थे। स्वप्न में वे व्यक्ति भी थे जो कई वर्ष पूर्व गुज़र चुके थे और ऐसे लोग भी थे, जो मैंने कभी देखे नहीं थे। स्वप्न में मेरा जो रूप था, उससे मैं सम्पर्क करूँ तो वह अब है ही नहीं। मेरे अतिरिक्त स्वप्न की घटनाओं की किसी को स्मृति भी नहीं है। मेरे अतिरिक्त उस दृश्य का गवाह कोई भी अन्य व्यक्ति धरा पर नहीं है। इस तथाकथित जाग्रत देह के सान्निध्य में मैं कह रहा हूँ, कि मैंने सपना देखा। यह देह भी मैं नहीं हूँ। क्योंकि इसने तो स्वप्न देखा ही नहीं, यह कदाचित् मेरा दूसरा स्वप्न है। मैं कौन हूँ? यहाँ **'मैं'** और देह के बीच में दरार पड़ जाती है। यदि इस अवस्था में जीवात्मा की वह देह छूट जाए, तो अगले जन्म में उसे दरार वाली देह ही मिलती है। वह बचपन से ही उदास सा रहने लगता है, कि मैं कौन हूँ? यहाँ से भ्रमजाल टूटना प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार जीवात्मा आश्वस्त हो जाता है, कि मैं देह नहीं हूँ। जिस देह का अवलम्बन लेकर मैंने स्वप्न का वह समस्त दृश्य देखा, वह है ही नहीं। जिनको मैंने (तथाकथित जाग्रत शिवकुमार) स्वप्न में देखा उन लोगों से

सम्पर्क हो ही नहीं सकता क्योंकि वे मेरी स्वप्न की देह के साथ लीन हो गए। अर्थात् मैं स्वप्न की केवल एक देह नहीं हूँ, बल्कि पूरी स्वप्न सृष्टि **मैं** ही हूँ। स्वप्न के दृश्य के सब जड़-चेतन पदार्थ व प्राणी **'मैं'** के विभिन्न रूप थे।

'मैं' निराकार मानस है, जो साकार सृष्टि के रूप में प्रस्तुत हुआ। वस्तुतः यह स्वप्न की स्मृति भगवती है, जो समष्टि **'मैं'** है, वह अदृश्य है। देह के बिना **'मैं'** यह कह नहीं सकता कि मैंने स्वप्न का दृश्य देखा। इस प्रकार **'मैं'** (जीवात्मा) एक से अनेक बना, लेकिन उसका बनाने वाला **'तू'** यानि **परमात्मा** था। कोई भी स्वप्न मेरे हाथ में नहीं होता। अगले स्वप्न में मेरी एक देह क्या होगी और किस-किस प्रकार मैं अनेक रूपों में प्रकट हूँगा, मैं नहीं जानता। सृष्टि को बनाने, पालन करने व संहार करने वाला **'तू'** ही है। **'मैं'** विशुद्ध जीवात्मा हूँ। मैंने पहले प्रपंचमय जगत को देखने के लिए जब देह के भ्रम का अवलम्बन लिया था, तो **'मैं'** भ्रमित होकर स्वयं को देह मान बैठा। **'भरम'** का **'भ'** हट गया और मैं देह व जगत में ही **'रम'** गया। मुझे देहाध्यास हो गया। मैं स्वप्न की देह और तथाकथित जाग्रत देह, दोनों को अपना स्वरूप मानकर भटकता रहा। यह मेरा प्रथम भ्रम था। विभिन्न स्वप्न-सृष्टियों में हुए तथाकथित कर्मों के बन्धन में पड़कर पापी-पुण्यी, सुखी-दुःखी, जन्म-मृत्यु न जाने किस-किस माया जाल में फंसता चला गया।

अब यह दूसरा भ्रम मुझे उस देह में **'रमण'** से निकालने के लिए होता है। मैं भ्रमित होते हुए भी आश्वस्त हूँ, कि देह **'मैं'** नहीं हूँ। फिर **'मैं'** कौन हूँ ? यह देह क्या है? इसके बाद जीवात्मा देह के साथ रहता सा है। पहले देह की अवचेतना ने चेतना (मैं) पर अधिपत्य किया हुआ था और चेतना (**'मैं**) ही अवचेतना बन गई थी। अब **'मैं'** और **'देह'** दोनों सतर्क हो जाते हैं। रहते दोनों फिर भी साथ-साथ हैं। दूसरा भ्रम होने के बाद देह और **'मैं'** (जीवात्मा) की परस्पर बनने लगती है। यह देह ही भ्रम निवारण हेतु इसे सद्गुरु के चरणों में ले आती है। इस तथाकथित जाग्रत देह के साथ **'मैं'** विचार करता हूँ, कि उस स्वप्न-सृष्टि में मैंने उस एक देह का चुनाव ही क्यों

किया कि मैंने सपना देखा। जबकि अब मैं जानता हूँ, कि स्वप्न-सृष्टि के विभिन्न नाम-रूपों में **'मैं'** ही था। तो मैं कोई भी देह हो सकता हूँ। यद्यपि स्वप्न वाली कोई भी देह नहीं है, सारी सृष्टि समाप्त हो चुकी है, लेकिन फिर भी मैं स्वप्न का आधार एक देह को **'मैं'** मानकर उस दृश्य का वर्णन करता हूँ। उस देह ने मुझे ही क्यों चुना? **एक ही सोया, एक ही ने स्वप्न देखा और एक ही जागा है, जो कह रहा है मैंने स्वप्न देखा।** यद्यपि स्वप्न का दृष्टा **'देह'** रूप में कोई नहीं है, स्वप्न की वह देह जो दृष्टा है, जो एक से अनेक बनी उसके लिए वह स्वप्न नहीं था। वह देह भी अब नहीं है, क्योंकि उससे **'मैं'** सम्पर्क कर ही नहीं सकता। **'मैं'** ने वही देह दृष्टा क्यों मानी, जबकि पूरी सृष्टि में प्रकट विभिन्न नाम-रूपों की देहें गायब हैं। जो अन्य देहें मैंने देखीं, उनमें से कुछ तो कई वर्ष पूर्व गुज़र चुकी हैं। स्वप्न का दृष्टा देह है ही नहीं, यह तथाकथित जाग्रत देह जो कह रही है, मैंने स्वप्न देखा, उसने वह दृश्य देखे ही नहीं। **स्वप्न की दृष्टा देह ने सारा दृश्य देखा, लेकिन स्वयं को नहीं देखा।**

मैं अपना चेहरा नहीं देख सकता। किसी ने अपना चेहरा नहीं देखा। दर्पण में जो अपना चेहरा हम देखते हैं, वह शास्त्रीय शब्दावली में **'पार्श्व विपर्यय'** होता है। दाँया चेहरा बाँई ओर होकर हमें अपना रूप दिखाई देता है। वही एक देह पूरी सृष्टि का आधार थी और दृष्टा थी, जिसने अपने अतिरिक्त सबको देखा। अर्थात् वहाँ एक अदृश्य समष्टिगत **'स्मृति'** कार्यरत थी, जो सबकी एक ही थी। **'मैं' वह समष्टिगत निराकार दृष्टा हूँ।** स्वप्न की वह दृष्टा देह **'मैं'** (जीवात्मा) की व्यष्टि थी और तथाकथित जाग्रत दृष्टा देह **'मैं'** की समष्टि है, जिसने उस देह सहित सम्पूर्ण जगत को देखा। **'मैं'** निराकार मानस हूँ, जिससे वह समस्त स्वप्न का दृश्य प्रकट हुआ और लीन हो गया। तथाकथित जागृति में मैंने स्वप्न की उस देह के साथ समस्त जगत को भी देखा। लेकिन स्वप्न में मैंने अपना चेहरा नहीं देखा, शेष सबके चेहरे और अलंकरण आदि सब देखे। **इसलिए जीवात्मा जो दृष्टा है, वह स्वप्न सृष्टि की दृष्टा देह को ही 'मैं'** मानकर स्वप्न

सुनाता है। दृष्टा का अपना कोई नाम-रूप नहीं है और सब नाम-रूप उसके हैं। जिसके सब नाम-रूप हों और अपना कोई नाम-रूप न हो तो वह निराकार ही होगा। **'मैं'** निराकार मानस हूँ। दृष्टा स्वयं को कभी नहीं देख सकता। उस स्वप्न में जो देह दृष्टा थी, उसने अपने अतिरिक्त सबको देखा। वह दृष्टा थी, इसलिए मैंने उस देह को चुना कि मैंने इस प्रकार स्वप्न का एक दृश्य देखा। स्वप्न की हर देह के साथ यह **'सद्' है। जिसका भी स्वप्न है, उसने अपने अतिरिक्त सबको देखा होगा, इसलिए वह दृष्टा है। एक ही सोया था, एक ने ही स्वप्न देखा और एक ही जागा। स्वप्न में वह एक से अनेक बना। न वह एक था, न अनेक थे।** अन्ततः सब नाम-रूप लीन हो जाएँगे और **'मैं'** और **'तू'** रह जाएँगे।

वह जो एक देह स्वप्न की दृष्टा थी, वह उस स्वप्न सृष्टि में मेरी अवस्था थी और शेष सृष्टि मेरी व्यवस्था थी। जाग्रत होने पर न अवस्था मेरी थी, न व्यवस्था मेरी थी। अवस्था और व्यवस्था का निर्माणकर्ता, पालनकर्ता व संहारकर्ता **'तू'** था। अगली अवस्था में वह मुझे किस रूप में प्रस्तुत करेगा और उसकी क्या व्यवस्था बनेगी, यह कुछ भी मेरे हाथ में नहीं है। **'तू'** (ईश्वर) अदृश्य है, **'मैं'** (जीवात्मा) भी अदृश्य हूँ और समस्त सृष्टि साकार है। जिसमें **'मैं'** देह रूप में अवस्था तथा **'मैं'** व्यवस्था रूप में जगत समय-समय पर विभिन्न मानसिक स्थितियों का प्राकाट्य है, जिसका **'मैं'** (जीवात्मा) मात्र दृष्टा हूँ। देह के नाम-रूप में जो मेरी अवस्था स्वप्न में बनाई गई थी, तदनुसार ही व्यवस्था थी।

एक **'तू'** है, जो स्रष्टा है। एक **'मैं'** दृष्टा हूँ और समस्त साकार **सृष्टि** मेरे लिए है। इसमें दो पक्ष होते हैं—एक, **'मैं'** एक देह के रूप में दृष्टा और दूसरा, **'मैं'** सम्पूर्ण दृश्य। यदि दृष्टा **'मैं'** नहीं हूँ, दृश्य भी **'मैं'** नहीं हूँ। मैंने समस्त साकार में से दृष्टा देह को इसीलिए चुना क्योंकि **'मैं'** दृष्टा हूँ। **स्वप्न की वही एक देह मेरे लिए दृष्टा थी।** उस देह के साथ मुझे भ्रम हो गया। वह देह तो दृश्य के साथ गायब हो गई। यह देह जो कह रही है, कि मैंने स्वप्न देखा, इसने देखा नहीं है। समस्त प्रपंचमय पंच-महाभूतों की

साकार सृष्टि का सद् यही है। मैं स्वप्न का दृष्टा हूँ, इसीलिए मैंने स्वप्न के समस्त दृश्य में से दृष्टा वाली देह चुनी। मेरी समष्टि **'मैं'** (जीवात्मा) स्वप्न की दृष्टा देह (व्यष्टि मैं) सहित समस्त दृश्य की दृष्टा है। सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड के दृश्य को देखने वाला **'मैं'** जीवात्मा है, जिसके मनोरंजन के लिए सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण, पालन व संहार हो रहा है। उसमें व्यष्टि देह के रूप में **'मैं'** (देह) अवस्था है, तथा समष्टि जगत के रूप में **'मैं'** ही व्यवस्था है। **क्योंकि अवस्था देह दृष्टा है, इसीलिए जीवात्मा ने स्वयं को एक नाम-रूप की देह मान लिया और इसी भ्रम में रम गया।** जहाँ दृष्टा जीवात्मा ने, देह-दृष्टा (व्यष्टि) को, जो जीवात्मा के लिए समस्त दृश्य का एक अंग मात्र थी, उसे अपना स्वरूप मान लिया। वहाँ संसार का मेला उसके लिए झमेला बन गया। तथाकथित जाग्रतावस्था में स्वप्न-सृष्टि की सबसे चमत्कारिक बात यह है, कि स्वप्न की दृष्टा देह मिल ही नहीं सकती और दृश्य की जो अन्य देह हैं, वे उस दृश्य का अंग होने से इन्कार करती हैं। इसका अर्थ है, कि देह के रूप में **'मैं'** (जीवात्मा) दृष्टा नहीं है। जीवात्मा निराकार है, समस्त दृश्य उसके लिए है। वह स्वयं में निराकार मानस है, उसी से समस्त साकार सृष्टि ईश्वरीय इच्छा में समय-समय पर विभिन्न अवस्थाओं में बनती है और व्यवस्थाओं के रूपों में प्रकट होती है। शिव-शक्ति-क्रीड़ा रूप में इस समस्त सृष्टि का रचयिता, पालनकर्ता व संहारकर्ता **'तू'** यानि परमात्मा है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(28 जुलाई, 2006, श्रावण शुक्ल तीज)

'मैं'

(भाग 4)

परमात्मा अदृश्य व निराकार है। कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों की रचना, पालन व संहार उसकी स्वतः, स्वयं में और स्वान्तः सुखाय क्रीड़ा है। इन कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों का निर्माता वह परमात्मा स्वयं **'ब्रह्माण्डातीत'** है। दृश्यमान सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण, पालन व संहार क्रमशः स्वतः होता है। **शिव-शक्ति-क्रीड़ा का स्थल ब्रह्माण्डातीत है।** उसका इकलौता मानस-पुत्र जीवात्मा भी निराकार, अदृश्य और अपने पिता की ही भाँति सच्चिदानंद व सहज सुख-राशि है। एक अदृश्य व निराकार (सच्चिदानंद परमात्मा) ने दूसरे अदृश्य व निराकार (अपने मानस-पुत्र जीवात्मा) के लिए कोटि-कोटि साकार महाब्रह्माण्डों में सम्पूर्ण मायिक सृष्टि का निर्माण किया है। वही इनका पालनकर्ता, संहारकर्ता तथा पुनर्निर्माणकर्ता है।

जीवात्मा **'मैं'** ईश्वर का विशुद्ध मानस है, जो इनका दृष्टा है। दृष्टा जब किसी दृश्य को देखता है, तो उसे नज़र या दृष्टि चाहिए। दूसरे उस नज़र या दृष्टि के प्रस्तुतिकरण के लिए कोई उपकरण चाहिए। आँखें दृष्टि नहीं हैं। आँखें मात्र देखती हैं, जिस दृष्टि से हम किसी भी दृश्य या नज़ारे को देखते हैं, हमें वह दृश्य या नज़ारा वैसा ही दिखाई देता है। **हमारी दृष्टि स्पष्ट करती है, कि क्या और कैसा देखा।** इसीलिए एक ही दृश्य को विभिन्न लोग विभिन्न प्रकार से देखते हैं, क्योंकि आँखें एक जैसी होते हुए भी सबकी दृष्टि पृथक्-पृथक् होती है। अतः जो किसी का नज़रिया है, वही उसे नज़र आता है। **जैसी दृष्टि या नज़र होती है, वैसा ही नज़रिया होता**

है और उसी के अनुसार आँखें देखती हैं। कोई भी नज़ारा, नज़र व नज़रिए के अनुसार ही अधिगृहीत व प्रस्तुत होता है।

संसार का सम्पूर्ण नज़ारा शिव-शक्ति-क्रीड़ा का बाह्य प्रकाट्य है। क्रीड़ा आनन्द में, आनन्द के लिए हो रही है। परमात्मा सच्चिदानंद है और जीवात्मा भी सच्चिदानंद एवं सहज सुख-राशि है और उसी के लिए यह सारा नज़ारा प्रस्तुत होता है। एक फिल्म की पूरी रिकार्डिंग कैसेट में हो चुकती है, फिर वे दृश्य स्क्रीन पर प्रस्तुत होते हैं। उस फिल्म में नायक-नायिका, विदूषक, खलनायक तथा अन्य अनेक गौण पात्र होते हैं। उनमें प्रेम, शत्रुता, मिलन-बिछुड़न, लड़ाई-झगड़ा, लेना-देना और भी बहुत कुछ होता है। कैसेट में हुई रिकार्डिंग अदृश्य होती है। जब उसका स्क्रीन पर प्रस्तुतिकरण होता है, तो एक **'टिक'** की ध्वनि के साथ अनेक आकारों व नाम-रूपों में एक सृष्टि का नज़ारा दर्शक के सम्मुख आता है। **उसका जो नायक जीवात्मा है, वह दर्शक के रूप में बैठ कर देख रहा है। वह एक देह रूप में उस दृश्य का एक अंग वह भी है, इसीलिए जैसे ही 'टिक' की ध्वनि के साथ प्रस्तुतिकरण प्रारम्भ हुआ, तो दृश्य में वह भी एक नाम-रूप में आ गया।** जब फिल्म समाप्त हुई तो फिर एक **'टिक'** की ध्वनि हुई, तो उस एक नाम-रूप के साथ समस्त साकार सृष्टि समाप्त हो गई और सफेद पर्दा रह गया।

जीवात्मा एक निराकार आनन्दमय मानस है, जो ईश्वर की ही भाँति चेतन, अमल, सहज सुख-राशि है। उसके लिए समय-समय पर प्रस्तुत होने वाला सृष्टि का समस्त नज़ारा माया के **तीन गुणों में** है। **सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण।** ईश्वरीय माया के ये गुण हैं, अवगुण नहीं हैं। तीनों गुण आनन्दमय हैं। सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण, पालन एवं संहार समय-समय पर तीनों गुणों में होता है। इस सृष्टि में दो पक्षों में समस्त क्रीड़ा चलती है। एक जीवात्मा को दी गई नाम-रूप की अवचेतनामयी देह और दूसरी ओर सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड। जब **'मैं'** जीवात्मा नाम-रूप की अवचेतना में नहीं होगा, तो कोई खेल नहीं चलता। जैसेकि **'मैं'** रात को सो जाता हूँ, तो उस

प्रगाढ़ निद्रा तथा उसीकी ही तरह विस्मृति, मूर्च्छा और मृत्यु में कोई साकार खेल नहीं चलता। देह के रूप में न **'मैं'** होता हूँ न जगत होता है। यह Silent Gap है, जिसमें पहली वाली साकार सृष्टि पूर्णतः साफ हो जाती है। **जीवात्मा** के रूप में वह निराकार मानस सफेद स्क्रीन की भाँति बिल्कुल निर्मल व साफ हो जाता है। फिर दूसरी सृष्टि या फिल्म अंकित और प्रकट होती है, जिसका पहली वाली सृष्टि से कोई भी तारतम्य या लिंक नहीं होता। रात को सुषुप्तावस्था में कोई स्वप्न आता है, तो **'मैं'** जागकर अपना सपना सुनाता हूँ, कि मैं घनघोर जंगल में कुछ साथियों के साथ भटक रहा था, सभी साथी भी बिछुड़ गए और मेरे पीछे शेर पड़ गया। मैं भागता हुआ एक पेड़ से टकराया और मेरे माथे से खून निकलने लगा। शेर की दहाड़ से मैं घबराया हुआ बेतहाशा भाग रहा था, कि मेरी नींद खुल गई। स्वप्न से तथाकथित जागकर जिसे मैंने सपना सुनाया, वह भी मेरे साथ स्वप्न में था। **उसने पूछा, कि तुम्हें वह सपना सोने के कितनी देर बाद आया और सपना आने के बाद आप कितनी देर और सोए।** यह मुझे ज्ञात नहीं होता, लेकिन स्वप्न-सृष्टि का ज्ञान है।

हम सब अपनी जाग्रतावस्था में सृष्टि के साकार नाम-रूपों में हैं और फिर थक-हार कर सोते हैं। तो सुषुप्तावस्था में ईश्वर वह सम्पूर्ण सृष्टि पूर्णतः समाप्त कर देता है। फिर दूसरी सृष्टि का अंकन होता है और जाग्रतावस्था में उसकी प्रस्तुति होती है। पुनः इस सृष्टि में हम अपनी एक साकार देह तथा उस पर आधारित जगत देखते हैं। क्योंकि सृष्टि की क्रीड़ा के यही दो पक्ष हैं। परिवार, पद-प्रतिष्ठा, आस-पड़ोस, धर्म-कर्म, कर्तव्य, मर्यादाएँ, धारणाएँ, देश-काल, लिंग, सम्बन्ध, मित्रता-शत्रुता, वैर-वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, प्रेम-घृणा, मिलन-बिछुड़न, लाभ-हानि, सुख-दुःख, नाम-यश, मान-अपमान, लेना-देना, जाति-पांति, ऊँच-नीच, अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य, परोपकार-परहानि, जप-तप, यज्ञ-हवन और सब कुछ एक नाम-रूप की देह की अवचेतना में है। जैसे ही हम सोते हैं, तो हमें अपने नाम-रूप की दैहिक अवचेतना नहीं रहती और देह सम्बन्धित कुछ भी नहीं रहता। देह होती है,

लेकिन उसकी अवचेतना नहीं होती। **जब तक कैसेट में रिकार्ड हुई पहले वाली फिल्म या सृष्टि पूर्णतः मिटा नहीं दी जाती, तब तक उसमें दूसरी सृष्टि की रिकार्डिंग नहीं हो सकती।** कैसेट में अगली स्वप्न-सृष्टि की अथवा तथाकथित जागृति वाली सृष्टि की रिकार्डिंग, पहली वाली सृष्टि के पूर्णतः इरेज़ होने के बाद ही होती है। **प्रत्येक साकार सृष्टि की रिकार्डिंग से पहले उस कैसेट का पूर्णतः साफ होना परमावश्यक है। उसके बाद उस मानस रूपी कैसेट में नई रिकार्डिंग होती है, जो आनन्द में होती है, क्योंकि उस रिकार्डिंग को करने वाला ईश्वर सच्चिदानंद है।** वह रिकार्डिंग बहुत ही श्रेष्ठ व आनन्द में करता है, लेकिन यदि मानस रूपी कैसेट बेकार हो गया या घिस गया, तो उस मानस रूपी कैसेट की गुणवत्ता के अनुसार ही उस पर नई रिकार्डिंग होगी। **रिकार्डिंग की गुणवत्ता मानस रूपी कैसेट की गुणवत्ता पर निर्भर करती है।** उदाहरणतः गायक बहुत उच्चकोटि का है, लेकिन गाने की रिकार्डिंग यदि घिसी-पिटी बेकार कैसेट पर हो तो वैसा ही रिकार्ड होगा।

अब यहाँ तीन बातें याद रखने की हैं–पहला, किसी भी कैसेट की रिकार्डिंग के प्रस्तुतिकरण के प्रारम्भ और अन्त में 'टिक' की ध्वनि, दूसरा, कैसेट की Quality तथा तीसरे, अगली रिकार्डिंग के लिए कैसेट की पहली रिकार्डिंग का पूरी तरह से साफ होना। अब हम सोए, बीच में सपना आया, फिर उठे तो सपने के दृश्यों की स्मृति आई। निश्चित रूप से कब मैं सोया, सोने के कितनी देर बाद स्वप्न-सृष्टि का मैंने अवलोकन किया और जागने के कितनी देर पहले स्वप्न-सृष्टि समाप्त हुई, यह समस्त अकाल-काल मेरी रिकार्डिंग में नहीं है।

हम रात को सोते हैं, सुबह उठते हैं और हमें पिछले दिन के सारे कार्यक्रम याद आ जाते हैं। जबकि आज के दिन की रिकार्डिंग जो मेरे सम्मुख प्रस्तुत होती है, वह बिल्कुल नई है। उसका पिछले दिन के प्रस्तुत हुए दृश्यों से कोई भी लेना-देना या तारतम्य नहीं है। लेकिन हमें निरन्तरता का अहसास इसलिए होता है, कि सुषुप्ति का अकाल-काल हमारी रिकार्डिंग

में आता ही नहीं। हम कितने बजे रात को सोए, कितने बजे उठे, कितने बजे कोई स्वप्न प्रारम्भ हुआ, कितने बजे समाप्त हुआ, फिर मैं कितनी देर सोया, इसका मुझे कुछ ज्ञान नहीं होता। हालाँकि अब मैं जानता हूँ, कि मैं लगभग आठ घण्टे सोया होऊँगा। लेकिन मैं यह नहीं सोचता कि 8 घण्टे के समय में स्वप्न के दौरान 3 महीने मैं विदेश रह कर आया, वहाँ तरह-तरह के दृश्य देखे। यह कैसे हुआ? मैं सोने का समय और जागने का समय अनुमान से गणना करके सोचता हूँ, कि मैं वही व्यक्ति हूँ, जो रात को सोया था और आज मेरे ये कार्यक्रम हैं। ऐसा इसलिए होता है, कि **मानस रूपी कैसेट खराब हो गई है। उस मानस में पहले के संस्कार अभी भी भरे हैं, जबकि आज के दिन की रिकार्डिंग बिल्कुल नई है।**

आज का दिन, आज की देह बिल्कुल नई है, शास्त्र ने इसे नित-नूतन कहा है। आज के दिन की कहानी नई है, परन्तु सुषुप्ति का समय मेरी गणना में नहीं है। इसीलिए मैं उसे पहले दिन की Continuity मान रहा हूँ। हर दिन पृथक्-पृथक् इसलिए है, क्योंकि रिकार्डिंग नई है। वही ऑफिस, घर आदि हो सकता है, लेकिन उसका परिदृश्य वही नहीं होगा। दो दिन कभी एक जैसे नहीं होते। एक व्यक्ति कल आपसे बहुत घुल-मिल कर बात कर रहा था, आज उसके तेवर दूसरे हैं। हर दिन विभिन्न विधाएँ होती हैं, जो हमारे हाथ में नहीं हैं। यहाँ पर जीवात्मा की नज़र बिगड़ जाती है। उस मानस पर परमात्मा ने सृष्टि की आनन्दमय रिकार्डिंग की और हमारे सामने प्रस्तुति हुई। **हमारे लिए वह सृष्टि वैसी ही है, जैसी हमारी दृष्टि है।** सृष्टि का वैशिष्ट्य, अच्छा या बुरा होना हमारी दृष्टि पर निर्भर करता है। इसीलिए एक ही नज़ारे के विषय में चार लोगों की राय अलग-अलग होती है, क्योंकि चारों की दृष्टि अलग-अलग है।

सृष्टि का नज़ारा देखने के लिए जीवात्मा ने कभी व्यष्टि **'मैं'** अर्थात् नाम-रूप की देह-दृष्टि ली, कभी समष्टि **'मैं'** अर्थात् देह सहित समस्त नामरूपात्मक जगत की दृष्टि ली। सृष्टि के समस्त नज़ारे का अंकन व प्रस्तुतिकरण ईश्वर द्वारा होता है। व्यष्टि और समष्टि दोनों एक नाम-रूप

की देह की अवचेतना पर आधारित हैं। ईश्वर ने जीवात्मा को फंसाने के लिए अथवा उसे दुःखी-सुखी करने के लिए सृष्टि नहीं बनाई थी। जीवात्मा ईश्वर का अंश चेतन, शाश्वत व सहज सुख-राशि है, तो जीवात्मा इस नश्वर देह व परिवर्तनशील जगत की दृष्टि क्यों ले? वह ईश्वर का नज़रिया लेकर सृष्टि को देखता। जिस आनन्दमय दृष्टि से सृष्टि की रचना, पालन और संहार हो रहा था, यदि वह भी उसी नज़र से विभिन्न प्रस्तुत दृश्यों का अधिग्रहण व प्रस्तुतिकरण करता, तो समस्त नज़ारा आनन्दमय ही होता। एक नाम-रूप व उस पर आधारित जगत की सृष्टि में आकर जीवात्मा कभी व्यष्टि **'मैं'**, कभी समष्टि **'मैं'** बना, अब व्यष्टि-समष्टि से परे अपने स्वरूप (निराकार आनन्दमय मानस) में आकर **दिव्य दृष्टि** से जगत को देखता है, तो उसे समस्त नज़ारे में **'तू'** ही **'तू'** नज़र आता है:–

''जिसे आँखे खुदा ने दी वह पत्थर में खुदा देखे,
जिसका हो दिल पत्थर वह पत्थर में क्या देखे।''

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(7 अगस्त, 2006)

जीवन एवं हवन

करोड़ों महा ब्रह्माण्ड शिव-शक्ति क्रीड़ा का बाह्य प्रकाट्य हैं। यह क्रीड़ा स्वयं में **यज्ञ** है। शिव की वास्तविक शक्ति, उसकी अतिशक्ति वैराग है। शिव वैराग द्वारा अपने वैराग से क्रीड़ा करता है, तो उसके पंच-प्राणों का पंच-महाभूतों के रूप में प्रकाट्य होता है। ये पंच-महाभूत स्वयं में निराकार और सहज जड़ हैं। वह महाचेतन सत्ता है, जो निर्माण-यज्ञ, पालन-यज्ञ और संहार-यज्ञ करती है, वह है–**शिव का वैराग।** यह वैराग इन पंच-महाभूतों में अदृश्य भस्मी के रूप में ठसाठस समाहित है। इसका संचालन शिव के हाथ में है। पंच-महाभूतों की सम्पूर्ण सक्रियता का कारण शिव का वैराग है। उस अदृश्य भस्मी रूप शिव की अतिशक्ति वैराग के कारण इन पंच-महाभूतों का संगम होता है, जिसे निर्माण-यज्ञ कहा जाता है और इसका अधिष्ठाता ब्रह्मा है। शिव, विधि का विधाता है, इसलिए जैसा वह चाहता है, ब्रह्मा वैसा निर्माण करता है। यह निर्माण-यज्ञ आनन्द में होता है। जो भी सक्रियता होती है, वह आनन्द में ही होती है। क्योंकि ब्रह्मा के रूप में निर्माणकर्ता शिव ही है:–

''सच्चिदानंदोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड में चर-अचर प्राणी जगत की रचना पंच-महाभूतों के संगम से होती है, जिसमें उत्कृष्टतम् रचना है–**मानव-देह।** मानव-देह की रचना ब्रह्मा ने इस प्रकार की है, कि सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड के समस्त तत्त्वों को इसमें समाविष्ट किया है। पृथ्वी की समस्त धातुएँ-अधातुएँ, आकाश के समस्त तत्त्व, वायु-मण्डल के समस्त तत्त्व, जल के सभी तत्त्व, 18 प्रकार की अग्नियाँ, जो सारे महाब्रह्माण्ड का संचालन करती हैं, सभी का समावेश

मानव-देह में किया है। एक भी तत्त्व को नहीं छोड़ा है। चिकित्सा-वैज्ञानिकों ने मानव-देह में इन तत्त्वों का दिग्दर्शन किया है। यदि एक भी तत्त्व में थोड़ी सी भी कमी आ जाए, तो सम्पूर्ण देह का सन्तुलन अस्त-व्यस्त हो जाता है।

पालन-यज्ञ में पंच-महाभूतों के सन्तुलन का विशेष ध्यान रखा जाता है और पालन-यज्ञ का अधिष्ठाता शिव, विष्णु रूप में है। अग्नि का नाद हर-हर है और शिव की पंच-प्राणों की अदृश्य ज्योति का, अग्नि ही साक्षात् दृश्यमान प्रतिनिधित्व करती है। पालन-यज्ञ के बाद शिव ही संहार-यज्ञ, अग्नि के द्वारा शंकर के रूप में करता है। अग्नि ही पंच-महाभूतों के संगम को स्वयं अग्नि के सहित पंच-महाभूतों में विलीन कर देती है। इस संहार के समय, अग्नि द्वारा पंच-महाभूतों को इनके स्वरूप में विलय के बाद इनमें जो अति सक्रिय शक्ति, शिव का वैराग अदृश्य भस्मी के रूप में समाहित था, वह प्रकट होकर दृश्यमान हो जाता है।

व्यष्टि-समष्टि यानि समस्त सृष्टि ही **यज्ञ** है। ज्ञान, ध्यान, आनन्द, भोग, निर्माण, संगम, पालन, विलय सब कुछ यज्ञ ही यज्ञ है। यज्ञ ही सब कुछ है। **हवनमय व यज्ञमय जीवन ही वास्तविक जीवन है।** यज्ञाग्नि स्वयं में निराकार परमात्मा का प्रतिनिधित्व करती है। शिव अग्नि-प्रिय है। शिव पंच-प्राणों का पुंज है। वह अदृश्य ज्योति ही मन्त्रोच्चार द्वारा प्रकट यज्ञाग्नि का साकार रूप में प्रकाट्य है। जिसका नाद है—हर-हर-हर। धूना, यज्ञ, हवन और भस्मी का वैराग से सीधा सम्बन्ध है। इससे मानसिक एकाग्रता बढ़ती है। हमारी दैहिक **'मैं'** मानव-मन की द्योतक है, जो अस्थिर, अशान्त एवं अशक्त है। जब यह **'मैं'** देह को भस्मी-रूप में देखती है, तो वहाँ देह नहीं रहती, इसलिए जगत भी नहीं रहता। संसार में **यह शिव-शक्ति क्रीड़ा देह और देह पर आधारित समस्त जगत के मध्य है, जगत और देह के बीच नहीं है।** इसलिए भस्मी दर्शन द्वारा ध्यान में जहाँ देह का विलय होता है, वहाँ जगत का विलय भी साथ के साथ ही हो जाता है। जब हम रात को सोते हैं, तो यद्यपि हमारी देह और उस पर आधारित जगत नहीं होता, लेकिन हमारे लिए उसका विलय नहीं होता। यदि विलय हो जाता तो स्वप्न

क्यों व कैसे आते? सूक्ष्म मानस में देह व देह पर आधारित जगत रहता है। लेकिन **सुषुप्तावस्था** में कुछ देर के लिए उसका **विलय सा** हो जाता है। मृत्यु में भी ऐसा नहीं होता। यदि पूर्णतः विलय हो जाता, तो व्यक्ति आसक्तियों को लिए क्यों मरता? यदि देह की मृत्यु के साथ देह व उस पर आधारित जगत का विलय हो जाता, तो मानव आसक्तियाँ लिए पुनः पुनः आवागमन के चक्र में क्यों पड़ता? भौतिक रूप से देह व उस पर आधारित जगत का विलय हो जाता है, लेकिन मानस से उसका विलय नहीं होता।

देहाभास के रूप में सूक्ष्म निराकार देह युगों-युगान्तरों से जीवात्मा की चेतना में है। मृत्योपरान्त **अग्नि** पंच-महाभूतों की देह का तो विलय करती है और देह के विलय के साथ उस पर आधारित समस्त जगत का भी विलय हो जाता है। यह भौतिक प्रकरण है, जो दैहिक दहन है, यह मानसिक दहन नहीं है। मानसिक दहन होता तो आसक्तियाँ, प्रारब्ध और पुनर्जन्म कहाँ से आता! **यह प्रारब्ध तब जाएगा, जब दैहिक दहन आपके सम्मुख होगा। मैं जब भस्मी का दावा करूँगा, कि 'मैं भस्मी हूँ', मानसिक दहन उस समय होगा।** यही वास्तव में **'यज्ञ'** है। उस समय सद् संकल्प से सद् निर्माण, सद् पालन और सद् संहार होगा। अन्यथा सब कुछ मात्र भौतिक और बाह्य हवन है।

जब यह दहन और हवन आभ्यन्तर हो जाए और उस दहन का प्राकाट्य, जो अग्नि और भस्मी है, उसका हम अपने अन्तर्चक्षुओं से दिग्दर्शन करें, तो उस समय प्रारब्ध नहीं रहेगा, कोई सांसारिक नियम हम पर लागू नहीं होगा। अन्यथा देहाध्यास और देहाधिपत्य के कारण जिन-जिन नियमों का पालन हमें करना होता है, वे नियम रूपी **'कर'** हम पर लग जाते हैं। **जहाँ देह होगी, वहाँ आनन्द नहीं होगा, वहाँ दैहिक सुख-दुःख होंगे। मेरे सामने मेरी देह हटनी चाहिए, वही आनन्द की स्थिति है।** चाहे वह भाव-समाधि हो, ध्यान-समाधि हो, लय-योग-समाधि हो या भस्मी-योग-समाधि हो, **वही यज्ञ है, वही ध्यान है, वही हवन है, वही जीवन है। अन्यथा सब स्वप्नवत् है।**

अन्तर्चक्षुओं से जब मैं देह की उस निश्चित, दर्शित अवस्था भस्मी का दिग्दर्शन करूँगा, उस दर्शित को दृश्य बना लूँगा, तब मेरा विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप जाग्रत हो जाएगा। मैं जब स्वयं को भस्मी से पहचानूँगा तो वहाँ न देह होगी, न देह पर आधारित जगत होगा। भस्मी की कुछ क्षण की झलक जीवात्मा का प्रकाट्य, अनाच्छादन व प्रादुर्भाव है। फिर जीवन उत्सवमय हो जाता है। देह और देह पर आधारित जगत उत्सवमय हो जाता है।

ध्यान में देह के दहन के बाद जो भस्मी प्रकट होती है, वह भस्मी देह की नहीं होती। जब वह भस्मी होगी तो देह नहीं होगी। **देह होगी तो भस्मी अवश्य होगी, लेकिन जब भस्मी होगी तो देह और देह पर आधारित समस्त जगत विलीन हो जाएगा।** आपने देह पर आधारित जगत का दहन नहीं किया, केवल देह का दहन ध्यानाग्नि द्वारा किया है, तो भस्मी प्रकट हुई। तो भस्मी के प्रकाट्य के लिए ध्यान में देह-दहन चाहिए। भस्मी प्रकट होने पर न देह होगी, न देह पर आधारित जगत होगा। इसको शिव-दर्शन या भस्मी-दर्शन कहा है।

दर्शित वह है, जो होगा और दृश्य वह है, **जो है।** दर्शित भविष्य में होगा और दृश्य वर्तमान में सम्मुख है। जो निश्चित है वह होगा, जो सुनिश्चित है, वह आपके सम्मुख है। परिलक्षित वह है, जो होगा और उसे लक्ष्य बनाकर जीवन-काल में भस्मी की अवधारणा से जब भस्मी का दिग्दर्शन होता है, तो वह दर्शित ही दृश्य बन जाता है। परिलक्षित ही लक्ष्य और निश्चित ही सुनिश्चत हो जाता है। दर्शित, निश्चित, परिलक्षित भविष्य देह धारी का ही होगा। देह भूत, भविष्य व वर्तमान काल की तीनों विधाओं में बँधी होती है, लेकिन देह का यह दर्शित भविष्य जब दृश्य बन जाता है, तो वह कालातीत होता है। वहाँ वर्तमान भी लुप्त हो जाता है। वह मेरा स्वरूप होगाः—

''सच्चिदानंदोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

भस्मी देह का निश्चित, परिलक्षित, दर्शित भविष्य है, लेकिन जब वह दर्शित दृश्य बन जाता है, परिलक्षित लक्ष्य बनकर सुनिश्चित हो जाता है, तो वहाँ काल की तीनों विधाओं के साथ देह व उस पर आधारित समस्त जगत

लुप्त हो जाता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाप्त हो जाता है। वह भस्मी की झलक देह के साथ सम्पूर्ण महा ब्रह्माण्डों को निगल जाती है। यह शिव का संहार है, कल्याण हेतु। जिस समय भस्मी की झलक आती है, वह मेरे शिवत्व की झलक होती है। उसकी दृष्टा देह वाली **'मैं'** नहीं है। वह **'मैं'** न देह की होती है, न देह पर आधारित जगत की होती है। जब वह दर्शित, दृश्य बन गया, तो इस दृश्य का दृष्टा कौन है? किसने इसे दृश्य घोषित किया? वह है—मेरा **जीवात्मा-स्वरूप**। वह जीवात्मा, परमात्मा का प्रतिनिधि है। वह **'मैं'** जब देह के दर्शित भविष्य, भस्मी को दृश्य रूप में देख लेती है और देह में आती है, तो जीव नहीं रहती।

भौतिक रूप से जन्मों-जन्मान्तरों में न जाने कितनी बार हम भस्मी बने, लेकिन मानसिक देह भस्म नहीं हुई। आसक्तियों को लिए वह मानसिक देह पुनः भौतिक देह धारण करती है। फिर मृत्योपरान्त भस्मी बनती है और यह सिलसिला अनवरत चलता रहता है। **इसलिए अपने सामने अपनी भस्मी देखें, जीवन आभन्तर हवन बन जाए, निरन्तर स्वाहा-स्वाहा चलता रहे, तब बाह्य पूजा-प्रकरण, यज्ञ-हवन आदि मात्र क्रीड़ा रूप में होते हैं। परन्तु उस मानसिक स्थिति के लिए बाह्य हवन परम सहायक एवं आवश्यक है।**

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(28 फरवरी एवं 1 मार्च 2006)

नज़र, नज़रिया एवं नज़ारा

(भाग 1)

शिव सच्चिदानंद है। वह प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पाँच प्राणों का अदृश्य एवं महासशक्त ज्योति-पुंज है। इसका आधार शिव की निहित अति शक्ति **'वैराग'** है। शिव में यह शक्ति समाहित ही है। जब शिव खेलना चाहता है, तो उसके पाँचों प्राणों की ज्योति और उसके वैराग में क्रीड़ा होती है। **अतः शिव स्वान्तः सुखाय, स्वयं में, स्वतः ही अपने वैराग से वैराग द्वारा ही खेलता है।** इस क्रीड़ा में उसमें समाहित अदृश्य पाँच प्राणों का प्रकाट्य पंच-महाभूतों के रूप में होता है। साथ ही उसकी अतिशक्ति वैराग, अदृश्य भस्मी के रूप में इन पाँचों महाभूतों के कण-कण में समाहित हो जाती है।

पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश ये पाँचों तत्त्व क्रमशः समान, उदान, अपान, प्राण और व्यान प्राणों की प्रतिच्छाया हैं। ये स्वयं में निराकार व सहज जड़ हैं। अतः इनमें अदृश्य रूप से ठसाठस समाहित भस्मी ही इनमें और समय-समय पर इनके विभिन्न अनुपातों के संगम से निर्मित, पालित और संहारित चराचर जगत में समस्त क्रियान्वयन करती है। शिव के वैराग की इस शक्ति द्वारा ही वायु में तूफान, समुद्रों में सुनामी, पृथ्वी में भूकम्प, अग्नि-प्रलय और आकाश में उल्का-पिण्डों का गिरना आदि क्रियाएँ दृश्यमान होती हैं। **इन पंच-महाभूतों में जितनी भी चमचमाहट है, वह इस भस्मी के कारण है।** आकाश के नक्षत्र, पृथ्वी की चमकदार अमूल्य धातुएँ, जल में अमूल्य मोती व रत्न तथा पंच-महाभूतों की बहुमूल्यता व अमूल्यता

शिव के वैराग की प्रतिरूप इस भस्मी के कारण ही है। पंच-महाभूतों में **अग्नि** ऊर्ध्वरेता है व शिव के पंच-प्राणों के अदृश्य ज्योति-पुंज का दृश्यमान प्रतीक है तथा इसका नाद है–**हर-हर-हर।** इसलिए शिव-स्वरूपा अग्नि ही ईश्वर द्वारा पंच-महाभूतों में निर्मित, पालित मानव-देह का, संहार के समय पंच-महाभूतों में विलय करती है। उसके बाद उसमें समाहित शिव के वैराग की शक्ति वह अदृश्य भस्मी प्रकट हो जाती है। **यह प्रकट भस्मी प्रमाणित करती है, कि पंच-महाभूतों की सृष्टि में इस सम्पूर्ण निर्माण, पालन और संहार का कारण 'मैं' (शिव) ही है।** देह अवचेतना (Consciousness) है और **'मैं'** चेतना (Awarenesss) है। अवचेतना, चेतना का प्रयोग कर रही है और इस प्रक्रिया में चेतना अपनी पहचान खो बैठी। हम सबकी देहें अक्ल-शक्ल, रंग-रूप, लिंग-आयु, धर्म-जाति, प्रतिभा, गुण-अवगुण आदि सबमें भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन सब अपने साथ **'मैं'** लगाते हैं। **'मैं'** जीवात्मा चेतन है, आनन्दस्वरूप है। ईश्वर की ही भाँति धर्मातीत, लिंगातीत, कर्मातीत, सम्बन्धातीत, कर्तव्यातीत, कालातीत, देशातीत, गुणातीत है और सभी देहें इनमें बँधी परिवर्तनशील, अस्थिर व क्षण-भंगुर हैं। क्षण-क्षण में रूप बदलती हैं। **'मैं'** (जीवात्मा) देह के साथ सम्पृक्त होकर देहाध्यासवश स्वयं को किसी देह में गृहस्थी, किसी में सन्यासी, किसी में ब्रह्मचारी, किसी में वानप्रस्थी मान बैठी। **'मैं'** का अपना सच्चिदानंद स्वरूप इन विविधमुखी, बहुनामी व बहुरूपी देहों में खो गया। **इसलिए देह का अवलम्बन लेकर मैं (जीवात्मा) ने अपनी चेतनता को खोजना है। जिस दिन मुझे देह द्वारा अपनी विशुद्ध 'मैं' की अनुभूति हो जाएगी, उस दिन मेरा देह धारण करना सार्थक हो जाएगा। 'मैं'** स्वयं को देह **द्वारा** Realise करे और देह **में उस अनुभूति को** Utilise करे, देह धारण करके मेरा (जीवात्मा का) यही लक्ष्य हो। नहीं तो देह व जीवन पशुओं की भाँति बीत जाएगा। फिर मिलेगा, फिर कोई माँ-बाप, पति-पत्नी, सन्तान, मित्र-शत्रु, परिवार-समाज, सम्बन्ध आदि बनेंगे, फिर कोई कोठी, बंगले, धन-सम्पदा एकत्र करेंगे। मृत्योपरान्त फिर शून्य पर आ जाएँगे। इन्हीं की आसक्तियाँ लिए **'मैं'** पुनः नंगा-भूखा कोई

अन्य देह लेकर पैदा हो जाऊँगा तथा प्राप्य की प्राप्तियों के ही लिए संघर्षरत हो जाऊँगा। यही हम सबकी दुःखद स्थिति है। जिसका किसी भी प्रकार से निराकरण होना आवश्यक है। मुझे मानव-देह के साथ अति चमत्कारिक, विलक्षण व परम उत्कृष्ट ईश्वरीय चेतनायुक्त बुद्धि भी मिली है।

'मैं' जीवात्मा, जैसे ही नाम-रूप की देह की Consciousness (अवचेतना) में आता है, उसी समय वह देह व उस पर आधारित जगत का खेल दृश्यमान हो जाता है। दुर्भाग्यवश इसे मिली एक नाम-रूप की देह के साथ इसे अध्यास हो जाता है, कि 'मैं यह देह हूँ'। इसलिए यह खेल इसके लिए झमेल बन जाता है। इसे मिली एक नाम-रूप की देह की अवचेतना ही समस्त जगत के खेल का आधार होती है। क्योंकि देह और देह पर आधारित समस्त जगत साथ-साथ प्रकट होते हैं और साथ-साथ ही लीन होते हैं। इसकी देह और इस पर आधारित समस्त जगत के प्रकट और लय होने का मूल इसे दी गई एक नाम-रूप की देह में ही है। **पहले 'मैं' स्वयं अपनी एक नाम-रूप की देह के प्रति Conscious होता हूँ, फिर उस अवचेतना के आधार पर जगत प्रकट होता है। 'मैं'** न वह देह हूँ, न उस पर आधारित जगत हूँ:—

''निराकार रूपं शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

मेरे एक नाम-रूप की देह की अवचेतना में आते ही सारा खेल एकदम शुरू हो जाता है और देह की अवचेतना न रहने पर वह देह और उस पर आधारित जगत दोनों नहीं रहते। इसका प्रमाण है, कि मेरी ज़रा सी झपकी में मेरी देह तथा सारी सृष्टि दोनों मेरे लिए लीन हो जाती हैं। On और Off का जो Main Switch है, वह देह में ही है। **सद्गुरु-कृपा से यदि इस एक नाम-रूप की देह से जीते जी अपने निश्चित, परिलक्षित, दर्शित भविष्य 'भस्मी' की अवधारणा की जाए, उसे सुनिश्चित करके लक्ष्य बनाते हुए, दृश्य बना लिया जाए, तो 'मैं देह हूँ', के देहाध्यास के स्थान पर 'मैं भस्मी हूँ', के भस्माध्यास से देह की अवचेतना न रहते ही, उस एकान्त की स्थिति में स्वतः सब कुछ छूट जाएगा।** क्योंकि समस्त खेल अथवा झमेल

का आधार यह एक देह ही है। नहीं तो किस-किस को हटाओगे, कई जन्म बीत जाएँगे, पल्ले कुछ भी नहीं पड़ेगा। जो देह के होते हुए भी विदेह हो, वह ही दिगम्बर है।

'मैं' अकाल पुरुष की इकलौती सन्तान विशुद्ध जीवात्मा हूँ। मुझे सृष्टि का खेल देखने के लिए देह मिली थी, परन्तु भ्रमवश **'मैं'** देह के साथ तद्‌रूप होकर सतयुग, द्वापर, त्रेता व कलयुग आदि कालों में भटकने लगा। **'मैं'** स्वयं अकाल था, लेकिन जन्म और मृत्यु के मध्य काल में बँधी देह की अवचेतना में यह काल, विकराल होकर मेरे गले पड़ गया। मुझे उसने खेलने के लिए एक सृष्टि दी, लेकिन सृष्टि का वह खेल ही मेरे लिए झमेल बन गया। हमने भ्रमवश सन्यास को बाह्य वेशभूषा, बाहरी चिन्ह-चक्रों और पद्धतियों से जोड़ दिया। कहीं भगवा वस्त्र धारण कर लिए, कहीं वस्त्र ही त्याग दिए। यह देह रूपी परिधान जब तक साथ चिपका रहेगा, सन्यास की मानसिक स्थिति बन ही नहीं सकती। **वस्त्र त्यागने से स्वयं को दिगम्बर मान लेना भ्रम है। पशु-पक्षी भी तो निर्वस्त्र रहते हैं, उन्हें कौन सा भगवान मिल जाते हैं। यूँ तो हर पशु दिगम्बर है। कुछ क्षण के लिए जागृति में इस देह की अवचेतना का अम्बर हट जाए जो मेरी (जीवात्मा) विशुद्ध 'मैं' का स्वरूप है—*''दिगम्बराय नमः शिवाय।''*** यह जो देह का वस्त्र ओढ़ा हुआ है, कि 'मैं यह देह हूँ', इस भाव के समाप्त होते ही उस दिगम्बर स्थिति का प्रकाट्य हो जाएगा। यही दिगम्बर का वास्तविक अर्थ है।

जाग्रतावस्था के जिन क्षणों में सद्‌गुरु-कृपा से आपका भस्मी स्वरूप आपके सम्मुख दृश्यमान होगा, वही आपकी दिगम्बर स्थिति है। जिस मानसिक स्थिति में आपकी देह ही न रहे, वहाँ मानस दिगम्बर हो जाता है। इसका समस्त क्रियान्वयन देह से ही होगा। देह का वह **'भस्मी रूप'** जो दर्शित है, उसे आपने दृश्य बना लिया, वही आपका शिव-स्वरूप है। उस स्वरूप को स्पर्श करने के बाद आप जैसे चाहें देह को सजाइए। उस दिगम्बर मानसिक स्थिति की अनुभूति का देह में सदुपयोग करिए। देह **से** ही दिगम्बर मनःस्थिति की अनुभूति होगी। फिर देह **में** उसका

Utilisation होगा। नाम-रूप की देह का वस्त्र हटाना ही भगवान श्रीकृष्ण की **'चीर-हरण-लीला' का आध्यात्मिक स्वरूप है।** श्रीकृष्ण की लीलाओं का आनन्द दिगम्बर व देहातीत मानसिक स्थिति में, यथार्थ की भूमिका पर ही लिया जा सकता है।

अतः देह से दिगम्बर होना है और फिर उस दिगम्बर मानसिक स्थिति में देह को Utilise करना है। देह उस परमात्मा ने मुझे दी है, इसका तिरस्कार करना और इसे हर समय नश्वर कहना, इसकी नश्वरता को ही पुष्ट करना है। **देह से ध्यानावस्था में इसकी भस्मी बना कर इसकी नश्वरता को ही नष्ट कर दीजिए।** मुझे ईश्वर से देह मिली है और उस पर आधारित जगत मिला है, जिसकी 84 लाख मायिक विधाएँ हैं। **'मैं'** जीवात्मा अपने उस दिगम्बर स्वरूप से इन खेलों की विभिन्न विधाओं का आनन्द लेता हूँ। तो उस समय परमात्मा द्वारा रचाया, हर नज़ारा मेरे लिए आनन्दमय हो जाता है। जीवात्मा स्वरूप में आते ही मुझे इस संसार महानाट्यशाला में चल रही प्रभु की विभिन्न लीलाओं का आनन्द आने लगता है। **'मैं'** जानबूझ कर आनन्द लेने के लिए भ्रमित होकर इस भ्रम को देखता हूँ और फिर अपने स्वरूप में आ जाता हूँ। **'मैं' इस मायिक भ्रम में स्वयं भ्रमित नहीं होता।** जब ध्यान में पंच-महाभूतों की अपनी देह को भस्मित कर पंच-महाभूतों में विलीन करते हैं, तब तत्वातीत तत्त्व **'भस्मी'** प्रकट होता है। देह के रहते हुए जब मुझे वह तत्वातीत तत्त्व दृश्यमान हो जाता है, तो वहाँ देह की अवचेतना नहीं रहती। **भस्मी, देह की एक निश्चित, परिलक्षित, दर्शित अवस्था है, लेकिन वह अवस्था देह की नहीं है।** भस्मी किसी नाम-रूप को नहीं पहचानती। यह युगों-युगान्तरों से चल रही चराचर जगत में समस्त नामरूपात्मक सृष्टि का समान तत्त्व है। भस्मी विशुद्ध **'मैं'** है, अपनत्व है, अकाल है। जो देशातीत, कालातीत, सम्बन्धातीत, धर्मातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत, मायातीत, त्रिगुणातीत है। **वह अजर, अमर सच्चिदानंद है**ः–

''ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुखराशि।''

'मैं' परमात्मा की इकलौती सन्तान उसी की भाँति सच्चिदानंद और सहज सुखराशि हूँ। वह **'ईश्वर'** एक है और **'मैं'** **'जीवात्मा'** भी एक हूँ। दोनों अदृश्य एवं निराकार हैं। समस्त सृष्टि साकार एवं विविध नाम-रूपों में है। **इस सृष्टि में मेरी एक नाम-रूप की देह के रूप में मेरी प्रत्येक अवस्था का कारण वह परमात्मा है।** समय-समय पर उस अवस्था के तदानुसार समस्त सृष्टि रूप में व्यवस्था है और मेरे आनन्द के लिए यह समस्त सृष्टि रची गई है। चराचर सृष्टि में जो सारा खेल हो रहा है, वह दो पक्षों में हो रहा है—मेरी एक नाम-रूप की देह और सारा जगत। जिसका मेन स्विच मेरी एक देह में है। **'मैं' (जीवात्मा) उस देह का अवलम्बन लेकर जगत का अधिग्रहण करता हूँ। उसे प्रस्तुत करता हूँ अथवा अधिग्रहण और प्रस्तुति दोनों मेरे द्वारा होती हैं।** यहाँ **'मैं'** देह की अवचेतना में न रहूँ, तो मेरे लिए कोई क्रीड़ा नहीं होगी। **'मैं'** देह और उस पर आधारित उस समय का जगत, जिसमें मेरी नाम-रूप की देह भी है, जिसे मैं उसी देह के माध्यम से Perceive कर रहा हूँ या Project कर रहा हूँ अथवा दोनों कर रहा हूँ। उस समय की क्रीड़ा का अत्यधिक आनन्द लेने के लिए **'मैं'** इसमें उस देह के आधार पर भूत और भविष्य का अवलम्बन भी लेता हूँ। किसी वर्तमान में हम जो भविष्य की योजना बनाते हैं अथवा भूतकाल की किसी घटना की चर्चा करते हैं, वह मात्र उस वर्तमान का रस लेने के लिए होती है। **यदि वह देह और उस पर आधारित जगत (जिसमें मेरी एक नाम-रूप की देह भी है) मेरे द्वारा अधिगृहीत और प्रस्तुत नहीं होगा तो मेरे लिए सृष्टि की क्रीड़ा नहीं होगी। समस्त साकार खेल का आधार मेरी एक देह के नाम-रूप की अवचेतना ही है।** वह एक देह क्रीड़ा का एक पक्ष है, दूसरा पक्ष उस देह पर आधारित जगत है, जो मेरे द्वारा प्रकाट्य है या मेरे द्वारा अधिगृहीत है अथवा दोनों हैं।

जैसेकि एक दृश्य होता है, उसे सब भिन्न-भिन्न रूप से अधिगृहीत करते हैं, क्योंकि जिस रूप में किसी ने उसका अधिग्रहण किया, उस समय उस दृश्य में उसका जगत वैसा ही होता है। कभी-कभी हम कोई दृश्य

प्रस्तुत करते हैं, उसमें **जो हम अधिगृहीत करते हैं, वह मेरी अपनी नज़र है और जो मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ, वह मेरा नज़रिया है।** उस नज़ारे में भी मेरी Perception और Projection मेरे अपने नज़रिए के अनुसार होती है। नज़ारा तो एक ही है, यह मुझ पर निर्भर करता है, कि **'मैं'** उसे किस रूप में Perceive करता हूँ या किस तरह से Project करता हूँ। सम्पूर्ण सृष्टि में मेरी नाम-रूप की देह **भी** है और उसका आधार वह एक देह **ही** है। इस प्रकार दो पक्षों (देह और देह पर आधारित जगत) में क्रीड़ा होती है। दोनों मेरी देह की अवचेतना में हैं। **'मैं' भी हूँ**, वाली देह मेरी एक नाम-रूप की साकार स्थूल-देह है और **'मैं' ही हूँ** वाली देह मेरी निराकार सूक्ष्म-देह है जिसमें मेरी नाम-रूप की स्थूल-देह सृष्टि की क्रीड़ा का एक पक्ष है।। ईश्वर ने मुझे इस निर्देश के साथ देह दी थी, कि मैं तुझे एक देह दूँगा और इस देह पर आधारित वैसा ही जगत दूँगा, जो उस समय की मेरी रची सृष्टि के अनुसार होगा। तू इसे देखने का नज़रिया मुझसे लेना, क्योंकि मैंने समस्त रचना आनन्द में की है। तुझे वैसी नज़र मिलेगी और नज़ारा भी आनन्दमय मिलेगा। **यदि तू मुझसे जुड़ा रहेगा, तो तेरा और मेरा नज़रिया व नज़र एक ही जैसे होंगे और तेरे लिए समस्त नज़ारा आनन्दमय ही होगा।** तू समस्त दृश्य की वाह-वाह करना। कोई मरा हुआ दिखाऊँगा तो वाह-वाह, पैदा हुआ दिखाऊँगा तो वाह-वाह करना। तू इस समस्त खेल का आनन्द ले, क्योंकि यह केवल तेरे लिए, मेरा रचा हुआ खेल है।

टीवी स्क्रीन पर चलती पिक्चर की तरह ही इस संसार महानाट्य-शाला का खेल तेरे लिए चलेगा, इसकी 84 लाख मायिक विधाएँ हैं। समय-समय पर तेरी देह के रूप बदलेंगे, उसी के अनुसार सारा दृश्य बदलेगा। रोज़ तुझे (जीवात्मा) खिलाने के लिए **मैंने (ईश्वर)** इस नाटयशाला की 84 लाख विधाएँ रखी हैं। तू इस भ्रम से भ्रमित मत होना। मुझसे जुड़ा रहना। इस भ्रम को तनिक भ्रमित होकर देखना और हर विधा का आनन्द लेना। नहीं देखना चाहेगा, तो देह की अवचेतना का मेन स्विच ऑफ करके, आँखें

बंद कर लेना। मैं (ईश्वर) फिर अगले दिन तुझे (जीवात्मा) देह का विशिष्ट परिधान पहनाऊँगा और उसी के अनुसार सारा दृश्य बनाऊँगा। नज़र और नज़रिया मुझसे लेकर दूसरा नज़ारा देखना, जैसा मैंने तेरे लिए रचा है। **अगर तू देह को अपनी कहेगा तो नज़र, नज़रिया तेरा अपना हो जाएगा। तुझे केवल दृश्य देखने के लिए देह का अवलम्बन मात्र लेना है। यदि तू स्वयं को वह देह मानकर उस भ्रम से भ्रमित हो गया तो तू मुझसे कट सा जाएगा और नज़ारे का आनन्द नहीं ले पाएगा। तेरे ऊपर प्रारब्ध का केस चलेगा।** ईश्वर ने जीवात्मा को देह इन समस्त उपर्युक्त निर्देशों के साथ दी थी।

दुर्भाग्यवश जीवात्मा को देह के साथ अध्यास हो गया, कि 'मैं देह हूँ'। अब मैं बड़ा आदमी बन गया। **'मैं'** अगर बड़ा आदमी है, तो छोटा कौन है? मैं राजा हूँ तो प्रजा कौन है? मैं मालिक हूँ तो नौकर कौन है? **अगर छोटे हैं, तो कोई बड़ा है। प्रजा है, तो राजा है और नौकर है, तो कोई मालिक है।** देह के साथ तद्‌रूप होकर यदि जीव मानता है, कि मैं बहुत बड़ा डॉक्टर हूँ, तो यदि मरीज़ न हों तो वह डॉक्टर कैसे बनेगा! ईश्वर ने जीवात्मा को देह की एक अवस्था में डाक्टर बनाया तो तदानुसार व्यवस्था में मरीज बनाकर दिए। हलवाई बनाया तो मिठाई खरीदने वाले बनाए। **देह की विभिन्न विधाओं व अवस्थाओं में उसे पुलिस बनाया तो चोर, डाकू बनाए। उसकी नज़र और नज़रिया ऐसा बना दिया, कि नज़ारे में उसे चोर ही दिखाई दिए।** क्योंकि संसार महानाट्‌यशाला की समस्त क्रीड़ा नाम-रूप की एक देह और उस पर आधारित जगत में चल रही है। **'मैं'** न वह देह हूँ, न जगत हूँ और यदि **'मैं'** देह की अवचेतना में हूँ तो **'मैं'** देह भी हूँ और जगत भी हूँ, क्योंकि दोनों साथ-साथ प्रकट और लीन होते हैं। मैं (जीवात्मा) उस ईश्वर की इकलौती सन्तान हूँ। **'मैं'** ही **'मैं'** हूँ:–

''इब्तदा हूँ 'मैं', फना हूँ 'मैं'
बका हूँ मैं, स्वाहा हूँ महास्वाहा हूँ मैं
खुदा नबी दोनों की इन्तहा हूँ मैं।''

देह और देह पर आधारित जगत जब विभिन्न विधाओं में अवस्था और व्यवस्था की दृष्टि से बदलता है, उस समय देह वही होती है, लेकिन व्यक्तित्व व नज़रिया बदल जाता है। नशा करके व्यक्ति कैसा-कैसा हो जाता है, क्योंकि नज़रिया बदल जाता है। हाथी, गधा नज़र आने लगता है। बड़े-छोटे, पाप-पुण्य, मर्यादा-अमर्यादा का अन्तर समाप्त हो जाता है। यदि आपको बिना नशा किए ऐसा नज़र आने लग जाए, तो समझ लेना चाहिए, **कि नज़र, नज़रिया और नज़ारा उसी ईश्वर का है।** यदि पीकर अथवा क्रोध आदि के आवेश में ऐसा हो तो नज़रें, नज़रिया और नज़ारा आपका अपना है। इसमें आप फँस जाएँगें। वह नज़रिया आपको अपनी चेतना के नशे से हो जाए, कि कोई बड़ा-छोटा नहीं है। सबमें **'मैं'** ही **'मैं'** हूँ। जहाँ देह के रहते देह का अम्बर छूट जाए, तो मुझे अपना सर्वव्यापक **'मैं'** का स्वरूप दृश्यमान हो जाएगा। फिर **'मैं'** देह रूपी अम्बर के किसी भी रूप को धारण करूँ और इसे सजाऊँ। वह मेरा दिगम्बर स्वरूप है, जहाँ **'मैं'** ही **'मैं'** हूँ और **'मैं'** (जीवात्मा) जो भी हूँ, **'तेरे'** (ईश्वर) कारण हूँ।

वह साकार देह तब एक ओर ईश्वर-अंश विशुद्ध जीवात्मा की प्रतिनिधि होती है और दूसरी ओर यह एक साकार देह ही सम्पूर्ण सृष्टि का आधार होती है। सम्पूर्ण सृष्टि में यह देह **भी** है और उसका आधार यह देह **ही** है। तब यही कामना होती है– ***''सर्वे भवन्तु सुखिनः''*** कि सब सुखी हों, सबमें **'मैं'** भी सुखी हूँगा। सृष्टि में जो देह **'भी'** (स्थूल-देह) है और सृष्टि का आधार जो देह **'ही'** (सूक्ष्म-देह) है, वे दोनों एक होकर जीवात्मा की प्रतिनिधि होती हैं। जीवात्मा का जितना सूक्ष्म-जगत है, उसमें उसकी स्थूल देह भी है और समस्त साकार सृष्टि भी है, जिसका आधार वह स्थूल देह ही होती है। इस समस्त साकार का आधार वह **कारण-देह** स्वयं ईश्वर है। **यहाँ कारण के दो आयाम हैं–जीवात्मा का कारण परमात्मा है और जीवात्मा के कारण यह समस्त सृष्टि है।** मध्य में जीवात्मा को उसने साभिप्राय रखा था, क्योंकि जब कोई रचनाकार कविता, कहानी, नाटक, लेख या उपन्यास की रचना करता है व विभिन्न पात्रों की संरचना कर एक Fantsy तैयार

करता है, तो उसे एक दर्शक या पाठक चाहिए, जो उसकी प्रशंसा करे, वाह-वाह करे। **जीवात्मा केवल वह दृष्टा है।** इसमें कुछ विशेष गुण अपेक्षित हैं। **दृष्टा रूप में जीवात्मा उस स्रष्टा की fan हो। जिस गहराई से स्रष्टा ने वह दृश्य रचा है, उसकी समझ होते हुए भी वह उसे स्वयं रचने में अक्षम हो। उसे हर बात नई लगे और पल्ले पड़े, साथ ही आगे जानने का कौतूहल हो। जिस आनन्दमय मानस में ईश्वर ने रचना की है, वह भी उसी आनन्दमय मानस का हो। नज़रिया और नज़र उसी से ली हो। तब हर नज़ारा आनन्दमय होगा।**

जीवात्मा की सृष्टि, परिवार व समाज वही होता है, जो उस समय उसकी देह के सम्मुख है। इसी प्रकार ईश्वर की 84 लाख मायिक विधाएँ हैं, जिनमें वह जीवात्मा को विभिन्न रूपों में विभिन्न खेल खिलाता है। एक ही देह में ईश्वर जीवात्मा को न जाने कितने रूप दिखाता है। उन सब रूपों में देह व देह पर आधारित जगत पूर्णतः आनन्दमय होता है, क्योंकि जीवात्मा का नज़रिया ईश्वरीय होता है। नज़रें और नज़ारा भी उसी का होता है। दृष्टा, जीवात्मा की **'मैं'** समय-समय पर देह की अवचेतना का अवलम्बन लेकर उस देह और उस पर आधारित जगत को देखती है, जो उस समय परमात्मा ने उसके लिए प्रकट किया है।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(21 मार्च, 2006)

नज़र, नज़रिया एवं नज़ारा

(भाग 2)

ईश्वर कालेश्वर है। वह काल का स्वामी है। इसलिए भूत, भविष्य और वर्तमान, काल की विधाएँ उसके संकेत पर चलती हैं। उसे **'अकाल पुरुष'** कहा गया है। हमारे जीवन की प्रत्येक विधा व परिवर्तन, जन्म-मृत्यु, दैहिक अवस्थाएँ, खोना-पाना, लेना-देना, मिलना-बिछुड़ना, आना-जाना सब कुछ काल से बँधा है और यह काल, कालेश्वर से बँधा है। इस काल में उसने इतना रहस्यमय, आश्चर्यजनक व चमत्कारिक सौन्दर्य भरा है, कि उसका वर्णन व महत्त्वांकन मानव-बुद्धि से परे है। आज सबके लिए बृहस्पतिवार, 23 मार्च, 2006 है। आज का दिन हमारे सबके जीवन-काल **में** अन्तिम दिन है। हो सकता है, यह दिन हममें से किसी के जीवन-काल **का** अन्तिम दिन हो जाए। दिन, वार, तिथि, आज का पंचांग सबके लिए एक ही है, लेकिन एक होते हुए भी यह दिन प्रत्येक के लिए भिन्न-भिन्न है। यहाँ तक कि एक ही परिवार के विभिन्न सदस्यों के लिए भी दिन एक ही होते हुए पृथक्-पृथक् है। इस भिन्नता के बहुमुखी प्रारूपों का वर्णन मैं अपने प्रवचनों में अनेक बार कर चुका हूँ।

महाकालेश्वर का काल में सौन्दर्य दर्शनीय है, कि पूरे ब्रह्माण्ड के लिए वही एक दिन चराचर सृष्टि में प्रत्येक जीव के लिए पृथक् है। यदि प्रत्येक जीव यह कहे, कि यह दिन मात्र मेरे लिए है, तो इसमें कोई त्रुटि या अतिशयोक्ति नहीं है। इसमें परस्पर कोई विवाद भी नहीं है, कि यदि किसी ने आज के दिन कुछ खोया और किसी ने कुछ पाया तो आपस में कोई

झगड़ा भी नहीं है। इस प्रकार एक ही दिन में काल की इन अनेक रूपात्मक तथा बहुमुखी प्रभावात्मक प्रस्तुतियों में, परस्पर किसी का, किसी से कोई झगड़ा या मतभेद नहीं है। **काल का दूसरा सौन्दर्य यह भी है, कि प्रत्येक दिन, प्रत्येक के लिए समय-समय पर विभिन्न प्रस्तुतियाँ लिए हुए होता है।** जीवन में कभी दो दिन परस्पर नहीं मिलते, चाहे हम एक ही घर में रहते हों। एक ही ऑफिस में जाएँ, एक ही दुकान या स्कूल आदि में जाएँ, तो भी दो दिन एक जैसे नहीं हो सकते।

एक समय में एक दृश्य कुछ लोगों के सम्मुख प्रकट होता है। यदि उस दृश्य पर उन सबको टिप्पणी रूप में पाँच वाक्य लिखने के लिए कहा जाए, तो सबका वक्तव्य पृथक्-पृथक् होगा। कुछ बातें एक सी होंगी, लेकिन सबमें क्रम एक जैसा नहीं होगा। किसी के लिए दृश्य का कोई पक्ष महत्त्वपूर्ण होगा, किसी के लिए किसी दूसरे प्रसंग की प्राथमिकता होगी। सबके क्रम में पहला वाक्य निजी प्राथमिकता के आधार पर होगा और पाँचवा वाक्य सबने सोचकर लिखा होगा। सबका प्रथम भाव व अन्तिम भाव एक ही नहीं हो सकता। इसका कारण यह है, कि नज़ारा एक ही है, लेकिन नज़रिया सबका पृथक्-पृथक् है। **इसी प्रकार दिन एक ही है, लेकिन सबके लिए पृथक्-पृथक् है और प्रत्येक दिन, प्रत्येक के लिए भिन्न-भिन्न है।** प्रत्येक नज़ारा ईश्वरीय ही है। मौसम, विशेष तापमान, वायु की गति, समय, स्थान, वातावरण एक ही है, लेकिन उस दृश्य के विषय में सबका वर्णन पृथक्-पृथक् इसलिए है, क्योंकि सबका नज़रिया पृथक्-पृथक् है। अतः एक ही दृश्य या नज़ारा सबके लिए पृथक्-पृथक् है। जिसका जैसा नज़रिया है, उसके लिए नज़ारा वैसा ही है। इसलिए एक ही दिन और उस एक दिन में विभिन्न दृश्य सबके लिए पृथक्-पृथक् होते हैं।

इस नज़रिए और नज़ारे के बीच में एक कड़ी और है, वह है– **नज़र।** क्योंकि हम नज़ारे को नज़र से देखते हैं। **जो नज़रिये को नज़र से दृश्यमान होता है, उसी का नाम नज़ारा है। नज़ारे को जो नज़र देखती है, वह नज़रिया है और जो नज़रिया है, हमारी नज़र वही देखेगी।** कहने

को नज़ारा एक ही है, मान लो संध्या का समय है, एक विशिष्ट तापमान है, हवा चल रही है। उसी तापमान और हवा में किसी को गर्मी लग रही है, किसी को सर्दी लग रही है। जगत में नित्य समय-समय पर हमारे लिए एक **नज़ारा** प्रस्तुत होता है। नज़ारे की प्रस्तुति ईश्वरीय ही है, यह नज़ारा हमारे हाथ में नहीं है। **नज़ारा जो है, सो है। उसे हम कैसे अनुभव कर रहे हैं, यह महत्त्वपूर्ण है।** हर नज़ारा ईश्वर द्वारा मात्र मेरे आनन्द के लिए रचा जाता है, उसमें **'मैं'** कभी-कभी आनन्द नहीं ले पाता, इसका मुख्य कारण मेरा अपना अहं व देहाध्यास है। जिसके कारण मेरी नज़र और नज़रिया बिगड़ जाता है।

जो **'मैं'** कर रहा हूँ (यदि मैं मानता हूँ, कि मैं कर रहा हूँ) वह निश्चित रूप से मेरे से पहले भी हो रहा था और मेरे बाद भी होता रहेगा। तो मैं विचार करूँ, कि मैं कर क्या रहा हूँ? वास्तविकता यह है, कि जो मैं समझता हूँ, **कि मैं कर रहा हूँ, वह मेरे द्वारा हो रहा है।** स्वयं को देह मानने के कारण मैं भ्रमित हो जाता हूँ, कि मैं कर रहा हूँ। Something is being done **through** me, I think that I am doing it and something is being done **for** me, I think that it is because of me. कुछ सोच और असोच-सोच मेरे लिए कार्य करती रहती है। इसी प्रकार जो **'मैं'** कर रहा हूँ, वह भी किसी के लिए प्रकट या अप्रकट रूप से हो रहा होता है।

ईश्वर ने हर नज़ारा आनन्द में निर्मित किया है, क्योंकि वह सच्चिदानंद है। उससे जो प्राकाट्य होता है, वह नज़ारा है, जिसमें हमारे जीवन की विविध घटनाओं की प्रस्तुतियाँ होती हैं। **अक्सर हम कहते हैं, कि करते जाओ, पर होगा वही, जो ईश्वर को मंजूर होगा। अर्थात् होना हमारे किसी के हाथ में नहीं है।** साथ ही करना भी तो हमारे हाथ में नहीं है। कभी-कभी हम कहते हैं, कि मैंने आज यह कार्य करना था, लेकिन मौसम या अन्य किसी रुकावट के कारण नहीं कर पाया। कभी करना कुछ और होता है, हम कर कुछ और बैठते हैं अथवा जितना करना चाहते हैं, उतना नहीं कर पाते। **वास्तव में कुछ करना भी हमारे हाथ में नहीं है।**

उदाहरणतः हम व्यापारी हैं, समय से दुकान पर जाते हैं, पर ग्राहक तो प्रभु-इच्छा से ही आएगा। हम डॉक्टर हैं, परन्तु मरीज़ों का आना तो हमारे हाथ में नहीं है। हम अध्यापक हैं, यदि विद्यार्थी न हों तो पढ़ाएँगे किसे? यह रहस्य यदि सद्गुरु-कृपा से पल्ले पड़ जाए, तो हमारा नज़रिया ईश्वरीय हो जाएगा।

जहाँ मैं कर्त्ता बनता हूँ, तो मैं करने में थकता हूँ, क्योंकि मुझमें किसी प्राप्ति की temptation होती है। **'भोग और प्राप्ति'** शीर्षक प्रवचनों में मैंने इस विषय का सविस्तार वर्णन किया है। इस लालसा का कारण काल्पनिक प्राप्ति का लोभ होता है। इस प्रलोभन से **'मैं'** करना शुरू करता हूँ और **मैं वह करता हूँ, जो स्वतः हो रहा है।** कोई भी कर्म व्यक्तिगत नहीं है। तथाकथित हमारी कोई सोच जब कर्म का रूप लेती है, तो उसमें सम्पूर्ण समष्टि (साधक या बाधक दोनों रूपों में) सम्मिलित होती है। जब कोई सोच आती है, उसका हमारी देह में एक प्रभाव होता है। कोई-कोई सोच ऐसी होती है, जो बैठे-बिठाए हमें तनावित कर देती है। हमारा अन्तर्जगत अस्त-व्यस्त हो जाता है, हम सहज नहीं रह पाते। **यदि किसी सोच के आते ही हम तनावित, निराश, भयभीत या लोभयुक्त हो गए, तो वह सोच हमारी अपनी है, ईश्वरीय नहीं है।** हम भयभीत व तनावित इसलिए होते हैं, क्योंकि उसे हम किसी भी प्रकार से कार्यान्वित करना चाहते हैं। हमने स्वयं को देह माना हुआ है। एक सोच आते ही हमें शान्ति मिलती है, उसमें कुछ पाने की लालसा नहीं होती, केवल सोच का आनन्द मिलता है। सबसे पहले किसी सोच की प्रतिक्रिया हमारी अपनी देह में होती है, तदुपरान्त हमारे स्वजनों में उसका प्रभाव होता है। जहाँ वह सोच हमारी अपनी है, वहाँ वह पहले हमें प्रदूषित करेगी, फिर समाज को प्रदूषित करेगीः—

''जो जलाता है किसी को, खुद भी जलता है ज़रूर,
शमा जलती ही रही, परवाना जल जाने के बाद।''

परामर्श भी सद्-पुरुषों से लेना चाहिए, क्योंकि उनका नज़रिया ईश्वरीय होता है। **नज़ारा तो ईश्वरीय है ही और कोई भी नज़ारा बिल्कुल**

भी हमारे हाथ में नहीं है। हम अपने किसी कृत्य द्वारा कोई नज़ारा निर्मित नहीं कर सकते। प्रत्येक नज़ारे का हम अधिक से अधिक आनन्द ले सकें, इसके लिए नज़र, नज़रिए और नज़ारे का समन्वय ठीक होना परमावश्यक है। जप-तप, ध्यान, दान-पुण्य, यज्ञ-हवन, चिन्तन-मनन, स्वाध्याय आदि पुरुषार्थ कर्मों का लक्ष्य यही है, कि हमारी नज़र व नज़रिया ईश्वरीय हो जाए। **सोचना, करना और होना कुछ भी हमारे हाथ में नहीं है।** जिस देह का हमें कुछ ज्ञान नहीं है, उस देह से हम कार्यक्रम बनाते हैं और तनावित होते हैं। इसीलिए हमारी नज़र और नज़रिया बिगड़ जाते हैं। **यदि हमें रंच मात्र भी यह अहसास है, कि मैं कर रहा हूँ, तो वहीं से नज़रिया बिगड़ जाता है। वहीं नज़र भी बिगड़ जाती है।** इन दोनों के बिगड़ने में परस्पर एक जैसा अनुपात नहीं होता। कभी नज़र ज्यादा बिगड़ जाती है, नज़रिया कम बिगड़ता है। हमारे लिए उसीके अनुसार नज़ारा बिगड़ जाता है, वह नज़ारा जो आनन्द में, आनन्द से, आनन्द के लिए प्रस्तुत हुआ था। इसलिए **'मैं', 'मैं'** करना बन्द कर दीजिए। आनन्द ही हमारा लक्ष्य है, जीवन उत्सव बन जाता है और उत्सव स्वतः होते हैं।

हमने अपने नज़रिए को ईश्वरीय बनाना है। हम जिस काल से बँधे हैं, वह कालेश्वर उसका स्वामी है। हम उसके काल को अपनी इच्छा से प्रयोग नहीं कर सकते। **ईश्वरीय नज़र तब मिलती है, जब हम तहे-रूह से आश्वस्त हो जाते है, कि किसी भी दृश्यमान सृष्टि अथवा नज़ारे का कर्ता और कारण 'मैं' नहीं हूँ।** उत्सव की परिभाषा हमने दी थी, कि "जब दो या दो से अधिक व्यक्ति आनन्द में मिलते हैं, आनन्द में विचरते हैं और आनन्द में बिछुड़ते हैं, पुनः आनन्द में मिलने के लिए, तो इस समस्त प्रकरण का नाम है—**उत्सव**। जब इस प्रकरण की पुनरावृत्ति बार-बार होती है, तो उसे **महोत्सव** कहते हैं।" **हम संसारी लोग 'आनन्द' का अर्थ खुशी, प्रसन्नता या सुख लेते हैं। लेकिन यह भ्रम है।** इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि प्रसन्नता, खुशी, दुःख, सुख सब दैहिक हैं और **आनन्द देहातीत है। आनन्द से ही हमारी इन्द्रियाँ सुख लेती हैं।** वह क्षेत्र देह से परे है और

अदृश्य है, लेकिन जब हम **आनन्द में** भी किसी से मिलेंगे तो दैहिक रूप से मिलेंगे, क्योंकि मिलना-बिछुड़ना तो दैहिक है। प्रश्न उठता है, कि परस्पर इनका क्या सम्बन्ध है? जब एक से अधिक व्यक्ति आपस में मिलते हैं, तो विभिन्न प्रकार की भौतिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। कभी मिलकर दुःख मिलता है, दुःख घटता या बढ़ता है। कभी सुख मिलता है, सुख कम होता है या बढ़ता है। कुछ खोते हैं या पाते हैं, पाप या पुण्य होता है। कभी किसी को मिलकर विदीर्णता बढ़ती है या संकीर्णता बढ़ती है अथवा खुलापन आता है। मिलकर उत्साह बढ़ता या घटता है। किसी को मिलकर उदारता बढ़ती है आदि-आदि तो भौतिक मिलन में ऐसी ही विभिन्न प्रकार की अनेक प्रतिक्रियाएँ होती ही हैं और यही प्रतिक्रियाएँ बिछुड़ने में भी होती हैं।

तो यह आनन्द में मिलन क्या है? हमने **'उत्सव'** के लिए कहा आनन्द में मिलना, आनन्द में विचरना और आनन्द में बिछुड़ना। **जहाँ आनन्द के अतिरिक्त अन्य कोई भाव, स्वभाव, प्रकरण लागू ही नहीं होता।** उत्सव कोई त्यौहार या Festival नहीं है। पाश्चात्य जगत में आनन्द की धारणा ही नहीं है। वहाँ जो भी है, सब दैहिक है। देह से प्रारम्भ हो कर देह पर ही समाप्त होता है। हमारी संस्कृति में आनन्दमय देहातीत घटना पहले होती है, कि सृष्टि के प्रत्येक नज़ारे का कारण, रचनाकार, पालनकर्ता और संहारकर्ता ईश्वर है। इस मान्यता एवं भावना के साथ ही हमारा मन और बुद्धि ईश्वरीय आनन्द और चेतना से ओत-प्रोत हो जाते हैं। उसका प्रकाट्य एवं उस अनुभूति का सदुपयोग देह में होता है। **जब मिलकर या बिछुड़कर दोनों में मात्र आनन्द ही आनन्द होता है, ऐसा उत्सव का दृष्टिकोण मात्र हमारी भारतीय संस्कृति में ही है।** हमारा मन आनन्दमय हो, इसके लिए आवश्यक है, कि भजन-कीर्तन, सत्संग, चिन्तन-मनन, ध्यान-समाधि, स्वाध्याय-नित्याध्यासन, दान-पुण्य, जप-तप, यज्ञ-हवन, सिमरन अथवा किसी भी प्रकार से हम ईश्वर से जुड़े रहें। उस आनन्द की स्थिति में जब हम किसी से मिलेंगे, तो वह भी आनन्दित होगा और हम भी आनन्दित रहेंगे। गंगा, गायत्री, गो, गणेश, गीता, गुरु, तुलसी, पीपल, शिवलिंग अथवा किसी भी देव-विग्रह में

ईश्वरत्व का प्रकाट्य होता ही है:—

''जिसे आँखें खुदा ने दीं, वह पत्थर में खुदा देखे,
जिसका दिल हो पत्थर, वह पत्थर में क्या देखे।''

दिव्यता सब जगह है, लेकिन कहीं प्रकट है, कहीं अप्रकट है। मानव-देह प्राप्त करके जीवन में एकमात्र उद्देश्य यही है, कि हम अपनी आच्छादित दिव्यता को देह द्वारा प्रकट करें, उसकी अनुभूति करें और फिर उन अनुभूतियों का देह में सदुपयोग करके, उनकी पुष्टि करें। लेकिन महा दुर्भाग्यवश नाम-रूप की अवचेतना में आते ही जीवात्मा अपदस्थ हो जाता है। **चेतना (Awareness) जब अवचेतना (Consciousness) में परिणत हुई तो जीवात्मा अपने पद से गिर कर, जीव बन गया और चेतनता से हटता ही चला गया।** लेकिन इसके मन से अपने उस पद का आकर्षण नहीं गया। ईश्वर का मानस-पुत्र जीवात्मा उसी की भाँति सच्चिदानंद था। जब नाम-रूप की देह को अपना स्वरूप मान बैठा, तो इसकी चेतना, अवचेतना में बदल गई। फिर भी अज्ञात रूप से अपने उस पद की गरिमा को यह विस्मृत नहीं कर पाया। मूलतः जो हमारी भौतिक साकार दृश्यमान देह थी, उस पर नाम-रूप की उपाधि चढ़ गई। साकार और दृश्यमान देह खेल में थी, मायिक थी। **नाम-रूप की उपाधि** में आकर हमारे लिए सृष्टि का **खेल** ही **झमेल** बन गया।

ईश्वर सच्चिदानंद, अदृश्य व निराकार है, जीवात्मा भी अदृश्य व निराकार है तथा सच्चिदानंद है। सद्-चेतन-आनन्द का अपना नशा था। **सृष्टि उस आनन्द का ही प्रकाट्य है।** इस सृष्टि के खेल में मेरी देह और उस पर आधारित जगत, दो पक्ष हैं। देह-दृष्टि से **'मैं'** हूँ तो जगत है, नहीं तो नहीं है। **वास्तव में जगत मेरी देह से भिन्न नहीं है। जहाँ से मेरी देह प्रकट हुई है, वहीं से जगत भी प्रकट हुआ है। वहाँ देह और जगत एक ही हैं।** एक ही निराकार मानस से साकार जगत प्रकट हुआ। उसमें एक ओर मेरा जगत है और एक ओर मेरी देह है। वह जगत मेरी उस समय की देह की मायिक विधा अथवा अवस्था पर आधारित है। मुझे थोड़ी सी झपकी आ

जाए, तो उस समय मेरी देह और उस पर आधारित जगत दोनों समाप्त हो जाते हैं। **मेरी एक स्थिति ऐसी है, जहाँ देह रूप में 'मैं' (जीवात्मा) और मेरा जगत दोनों नहीं हैं और निश्चित रूप से मेरी वह स्थिति निराकार है।** क्योंकि जहाँ देह गुम हो जाएगी, वहाँ जगत भी गुम हो जाएगा। जहाँ देह होगी, वहाँ साथ-साथ जगत भी प्रकट हो जाएगा, **अर्थात् मेरी एक देह ऐसी भी है, जो अदृश्य और निराकार है।**

मेरी निराकार व अदृश्य देह न होती तो यह साकार देह तथा जगत कहाँ से प्रकट होता? यह सम्पूर्ण सृष्टि उससे निर्मित नहीं है, बल्कि उससे प्रकट हुई है। इस सृष्टि में एक देह रूप में **'मैं' भी** हूँ और इस सम्पूर्ण जगत का आधार **'मैं' ही** हूँ। अतः मेरी दो देह हैं, एक दृश्यमान साकार देह और दूसरी अदृश्य निराकार देह। अदृश्य निराकार देह से साकार देह व उस पर आधारित जगत समय-समय पर ईश्वर-इच्छा में प्रकट होता है। जिसका कारण ईश्वर है। **दृश्यमान साकार देह इस सृष्टि के अधिग्रहण, प्रस्तुतिकरण व इसकी निर्मिति की प्रशंसा करने के लिए है।** इसके लिए देह की अवचेतना में आना आवश्यक था। जब तक हम देह के नाम-रूप की अवचेतना में नहीं होंगे, तब तक हमारे लिए न देह है, न देह पर आधारित जगत है। लेकिन देह और देह पर आधारित जगत के निर्माता हम नहीं हैं। **उसका निर्माता, पालनकर्ता व संहारकर्ता वह स्रष्टा परमात्मा है। वह अदृश्य व निराकार है और उसका दृष्टा 'मैं' जीवात्मा भी अदृश्य और निराकार है।** समस्त सृष्टि साकार है, जिसमें दो पक्ष हैं, पहला है—मेरी एक नाम-रूप की देह और दूसरा—उस पर आधारित जगत। **मेरी** नाम-रूप की देह, अवचेतना में है और समस्त दृश्य भी मेरी नाम-रूप की देह की अवचेतना पर आधारित है। सृष्टिकर्ता द्वारा रचाई गई किसी सृष्टि का आनन्द लेने के लिए नाम-रूप की अवचेतना का जाग्रत होना आवश्यक है। इसलिए मुझे नाम-रूप की अवचेतना भी चाहिए, ताकि मैं उस स्रष्टा द्वारा रचाई गई सृष्टि का आनन्द ले सकूँ, उसकी प्रशंसा कर सकूँ। इस प्रकार नाम-रूप की देह की अवचेतना में तनिक भ्रमित होकर चेतन जीवात्मा, दृष्टा

बनकर ईश्वरीय लीला के नज़ारों का आनन्द लेता है।

देह हो, लेकिन उसके नाम-रूप की अवचेतना न हो तो हमारा कोई जगत भी नहीं होता। हम सोए हुए होते हैं, तो देह तो होती है, लेकिन उसकी अवचेतना नहीं होती। उदाहरणतः, पेट दर्द से कराहता एक रोगी आ जाए और डॉक्टर सोया हुआ हो, तो सुषुप्त डॉक्टर उसका क्या इलाज करेगा ! सोए हुए तो उसे अपने डॉक्टर होने का ज्ञान ही नहीं है। अतः उसे जगाया जाएगा। डॉक्टर अपने नाम-रूप की अवचेतना में आकर डॉक्टर बना और इलाज करने आया, तो पता चला कि मरीज सो गया। अतः मरीज की बीमारी भी तभी है, जब वह स्वयं अपने नाम-रूप की अवचेतना में आएगा। अतः रोग-दोष, वैर-वैमनस्य, मित्रता-शत्रुता, राग-द्वेष, प्रेम-घृणा, लाभ-हानि, यश-अपयश, ईर्ष्या-मोह आदि सब नाम-रूप की अवचेतना में ही हैं। **इसलिए इस संसार का समस्त खेल व क्रीड़ा नाम-रूप की अवचेतना में ही होती है।**

इस अवचेतनामयी देहाभास वाली देह से जीवात्मा, दृष्टा भाव में दैहिक अवचेतना का स्विच ऑन करता है, तो इसके लिए एक देह तथा उस पर आधारित समस्त जगत प्रकट हो जाता है। **जैसेकि बल्ब का स्विच ऑन करने से वह बल्ब स्वयं तथा सम्पूर्ण कक्ष प्रकाशित हो उठता है।** इस समस्त खेल की रचना परमात्मा ने की है और यह समस्त खेल उसकी माया है। **न वह देह है, न देह पर आधारित जगत है। जैसेकि किसी स्वप्न से जागने पर सम्पूर्ण स्वप्न का आधार देह तथा उस पर आधारित जगत दोनों ही नहीं रहते।**

सृष्टि बनाने वाला परमात्मा भी चेतन है और देखने वाला जीवात्मा भी चेतन है। **इस दृष्टा को सृष्टि का आनन्द लेने के लिए अवचेतना की देह-दृष्टि चाहिए, तभी खेल की सार्थकता है।** यहाँ जीवात्मा फँस गया। देह की अवचेतना से मात्र देह-दृष्टि लेने गया था, लेकिन इसे भ्रम हो गया, कि 'मैं यह देह हूँ'। **बिना देह-दृष्टि के अथवा दैहिक अवचेतना के यह इस संसार महा नाट्यशाला की क्रीड़ा का आनन्द कैसे लेता?** क्योंकि भ्रम को

देखने के लिए हमारा भ्रमित होना आवश्यक है। हम कोई नाटक या फिल्म देखने जाते हैं, तो कलाकारों का मूल स्वरूप भूल जाते हैं और जिन पात्रों की भूमिकाएँ वे कर रहे हैं, उन भूमिकाओं के साथ भ्रमित हुए तद्‌रूप हो जाते हैं तभी फिल्म का आनन्द आता है। यदि हम यह सोचते रहें, कि यह माला सिन्हा है, यह नकली रो रही है, इसने तो इस दृश्य के फिल्मांकन के लिए कई लाख रुपये लिए होंगे, तो निर्माता-निर्देशक द्वारा प्रस्तुत दृश्य का आनन्द हम कैसे लेंगे? उस भ्रम को देखने के लिए हमारा भ्रमित होना भी आवश्यक है। सिनेमा हॉल से बाहर आकर हम सब कुछ भूल जाते हैं, क्योंकि हमें पूर्ण ज्ञान था, कि वह मात्र एक काल्पनिक मायिक कहानी थी। वस्तुतः पर्दे पर कुछ नहीं हुआ। तनिक भ्रमित होकर उस खेल की वाह-वाह करते है और फिर अपने स्वरूप में आ जाते हैं।

दुर्भाग्यवश जीवात्मा संसार महानाट्‌यशाला के इस खेल के साथ तद्‌रूप होकर स्वयं भ्रमित हो गया। इसलिए वह वाह-वाह करने की बजाय हाय-हाय करने लगा। संसार रूपी इस नाट्‌यशाला में चलते विभिन्न दृश्यों व स्थितियों का आनद लेने के लिए जीवात्मा को अवचेतनमयी देह-दृष्टि अपेक्षित थी, लेकिन यहाँ वह इस मायिक जाल में उलझ गया और स्वयं को देह मान बैठा। इस देहाध्यास से वह एक नाम-रूप की देह में तुच्छ व संकुचित सा जीव बन गया। **जीव बनकर भ्रम का आवरण इतना सघन होता गया, कि इसका मूल सच्चिदानंद जीवात्मा स्वरूप आच्छादित हो गया।** इसकी देहाभास वाली सूक्ष्म देह इसी की भाँति कालातीत, देशातीत, सम्बन्धातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत, लिंगातीत, धर्मातीत थी। **लेकिन यह अवचेतनामयी देह ईश्वर-विमुख थी और जीवात्मा स्वयं में ईश्वर-सम्मुख,** उसी का अंश सच्चिदानंद था। वह देह से भ्रमित देह-दृष्टि लेने गया था, ताकि इस खेल का आनन्द ले सके। स्रष्टा की सृष्टि की प्रशंसा कर सके। लेकिन जब स्वयं वह देह बनकर इस भ्रम से भ्रमित हो गया, तब सारा खेल इसके लिए **झमेल** बन गया। उस खेल में हुई घटनाओं से तद्‌रूप हो गया, कि हाय मेरी माँ मर गई, मेरी पत्नी बीमार हो गई, मेरे बेटे

की नौकरी छूट गई, आदि-आदि। यह तमाशा देखने गया था, लेकिन खुद तमाशा बन गया। यह स्वयं में कुछ नहीं था, लेकिन खेल के साथ इतना तद्‌रूप हो गया, कि कभी पापी, कभी पुण्यी, कभी कर्मठ, कभी कर्मयोगी न जाने क्या-क्या बन गया। इस प्रकार अपने मूल स्वरूप से **वंचित सा** होकर जन्म-जन्मान्तरों में भटकने लगा।

पंच-महाभूतों की सृष्टि शिव-शक्ति क्रीड़ा का प्रकाट्य है। **पृथ्वी, वायु, जल, आकाश व अग्नि, पंच-महाभूतों से संसार महानाट्यशाला का सम्पूर्ण प्रबन्धन उस स्रष्टा ने जीवात्मा के लिए समय-समय पर विभिन्न दृश्यों का अधिग्रहण करने व आनन्द लेने के लिए किया हुआ था।** इसको दी गई देह में इन पंच-महाभूतों की प्रतिनिधि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ थीं। पृथ्वी की **नाक,** वायु की **त्वचा,** अग्नि की **आँखें,** आकाश के **कान** और जल का **जिह्वा** प्रतिनिधित्व करती है। देह में ये इन्द्रियाँ जीवात्मा को अस्थाई तौर पर मिली थीं, ताकि इस मायिक सृष्टि का कुछ देर के लिए भ्रमित हो कर रसास्वादन कर सके। साथ ही पुनः इसे अपने आनन्दमय व चेतन स्वरूप में आ जाना था, लेकिन दुर्भाग्यवश यह स्वयं देह बनकर इन इन्द्रियों के सुखों में भटक गया। इसकी कर्मेन्द्रियाँ, इन ज्ञानेन्द्रियों के लिए सुख-साधन एकत्र करने में जुट गईं। भ्रम के अधिग्रहण से प्रभावित होने के कारण इसका आनन्दस्वरूप, जहाँ से इन्द्रियों के सुख प्रकट होते थे, वह आच्छादित हो गया। **यह भ्रम से भ्रमित हो गया और आनन्द से वंचित हो गया।** देह से तद्‌रूप होकर सुखी-दुःखी होने लगा। यदि वह आँखें खोल कर जानते-बूझते हुए भी तनिक भ्रमित होकर खेल देखता और नेत्र बन्द करके अपने स्वरूप में आ जाता, तो हर अगले दृश्य का आनन्द लेता। **आँखें खोलकर जगत का भ्रम देखता और आँखें बन्द करके स्वयं को देखता।** स्वयं को तो जीवात्मा ने देखा ही नहीं। जब आँखें बन्द हुईं (सुषुप्तावस्था, मृतकावस्था, मूर्च्छावस्था आदि) तो यह स्वयं था ही नहीं। यदि आँखें समाधि में बन्द होतीं, तो यह स्वयं को देखता, कि मैं उस सच्चिदानंद का अंश विशुद्ध जीवात्मा हूँ। यह दृश्यमान जगत सब भ्रम है।

आँख, कान को खोलकर जो देखेगा या सुनेगा, वह भ्रम ही होगा क्योंकि देह और जगत दोनों मायिक हैं। **समाधि में स्वयं को देखने के लिए इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का बाध करना पड़ता है और इस संसार नाट्यशाला के भ्रम का आनन्द लेने के लिए इनका प्रयोग करना होता है। भ्रमित होकर देखने के लिए साकार स्थूल देह का अवलम्बन लेना ही होता है।**

इन ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ही जीवात्मा साकार सृष्टि का अधिग्रहण करती है। आँखें खोलकर उसने दृश्य देखे, कान खोलकर विभिन्न ध्वनियाँ, राग-रागनियाँ सुनीं, त्वचा से विभिन्न स्पर्श किए, नाक से सुगन्ध-दुर्गन्ध का निर्णय किया और जिह्वा से विभिन्न व्यंजनों का स्वाद लिया। ये इन्द्रियाँ उसकी सेविकाएँ थीं, विभिन्न सांसारिक पदार्थों का आनन्द लेने का माध्यम थीं। **दुर्भाग्यवश यह जीवात्मा दृश्य के साथ तद्‌रूप होकर दृश्यमय हो गया।** यह संगीत सुनते-सुनते संगीतमय हो गया। **महाचेतना का यह चेतन अंश, भ्रमित होकर अवचेतना में दृश्यों को देखना चाहता था, लेकिन इस भ्रम से स्वयं भ्रमित होकर चेतन जीवात्मा से पंच-महाभूतों की देह में तुच्छ सा अवचेतन जीव बन गया।**

हम जब कोई फिल्म देखने जाते हैं, तो दो घण्टे की एक फिल्म में नायक-नायिका के बचपन से लेकर बुढ़ापे तक के सब दृश्य दिखा दिए जाते हैं। विभिन्न दृश्यों में सम्पूर्ण विराट जीवन की कथा 2 घण्टे में समेट दी जाती है। यह समस्त भ्रम होता है। क्योंकि 2 घण्टों में वर्षों का जीवन कैसे आ गया! सिनेमा हॉल से बाहर आकर हम सब भूल जाते हैं। अगले दिन कोई दूसरी फिल्म देखने चले जाते हैं। इसी प्रकार **हमारे जीवन के विभिन्न दृश्य भी उस महा कलाकार, निर्माता, निर्देशक ईश्वर के द्वारा प्रस्तुत विभिन्न मायिक व नाटकीय स्थितियाँ हैं।** इस भ्रम को भ्रमित होकर देखना है, ताकि आनन्द लें, उसकी वाह-वाह करें। **इस भ्रम से स्वयं भ्रमित नहीं होना। देखने के बाद इन ज्ञानेन्द्रियों को बन्द करें और अनुभव करें, कि वह समस्त मात्र एक दृश्य था। 'मैं' न वह देह था और न जगत।** जो कुछ भी हम देह सहित बाह्य जगत में देखते हैं, वह सब अवचेतना में है।

यह सारी सृष्टि अवचेतना में है और स्रष्टा और दृष्टा दोनों चेतन हैं। दृष्टा को ईश्वर ने एक देह दी थी, कि तू मेरी इस पंच-महाभूतों की सृष्टि का आनन्द लेने के लिए देह में मेरे इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों रूपी प्रतिनिधियों का प्रयोग कर और फिर इनका बाध करके अपने दृष्टा स्वरूप में आ जा। यदि तू देह को **'मैं'** मानता है, तो जगत को भी **'मैं'** मान, क्योंकि दोनों ही तेरी अपनी देह के नाम-रूप की अवचेतना में हैं। **ये दो निकास उस सृष्टिकर्ता ने जीवात्मा को दिए थे, कि दृश्य देखकर आँखें बन्द कर लेना और अपने निराकार स्वरूप में आ जाना, नहीं तो देह सहित सम्पूर्ण दृश्य को 'मैं' मानना।** क्योंकि हर दृश्य के लिए नाट्यशाला की पूर्ण सुसज्जा, विभिन्न पात्रों का आकार-प्रकार उनकी बहुरंगी वेशभूषा का चयन, उनके द्वारा बोले जाने वाले संवादों और दिखाए जाने वाले हाव-भावों की प्रस्तुति का अंकन उस स्रष्टा ने किया हुआ है, जो मात्र नाटक या खेल है, मात्र एक नज़ारा है। लेकिन जीवात्मा इस सृष्टि में उलझ गया। सृष्टि को देखने के लिए जीवात्मा को मात्र देह-दृष्टि चाहिए थी।

यदि वह नाम-रूप की अवचेतना की देह न होती, तो जगत भी न होता। **चेतन जीवात्मा को इस नाम-रूप की अवचेतनामयी देह से मात्र दृष्टि लेनी थी। लेकिन वह देह-रूप ही हो गया। यह दृष्टि लेना इतना मंहगा पड़ गया, कि यह स्वयं में पुरुष-स्त्री, पापी-पुण्यी, कर्मठ, धर्मी-कर्मी, दानी-कंजूस, लोभी, और न जाने क्या-क्या बन गया ! माँगी सिर्फ दृष्टि थी, लेकिन स्वयं को यह देह मान बैठा और जीवात्मा देह के रूप में सृष्टि का अंग एक तुच्छ जीव बनकर भटकने लगा।**

जीवात्मा को पता है, कि अगले दिन का दृश्य कुछ और होगा, जिसका इस आज वाले दृश्य से कोई सम्बन्ध नहीं होगा। देह दूसरी होगी और दृश्य भी दूसरा होगा। कभी कोई दो दिन किसी के लिए एक जैसे नहीं होते। **यह दृश्य को देखकर स्वयं में आता तो हर दृश्य का भरपूर आनन्द लेता, लेकिन यह स्वयं दृश्य का अंग बन गया और खुद को भूल गया।** स्वयं को वह एक नाम-रूप की देह मानकर जगत से कट सा गया। जबकि

स्रष्टा ने इसे देह देते हुए निर्देश दिया था, कि तू देह को **'मैं'** कहना तो जगत को भी **'मैं'** कहना। नहीं तो दोनों को **'मैं'** न कहना, क्योंकि तू मात्र दृष्टा है। यह दृश्य केवल तेरे आनन्द लेने के लिए मैंने (स्रष्टा) रचे हैं। **स्वतः प्रकट सृष्टि के अधिग्रहण के लिए अवचेतन देह-दृष्टि आवश्यक थी। जीवात्मा अदृश्य है, वह अपनी निराकार सूक्ष्म देह से साकार स्थूल-देह व उस पर आधारित समस्त साकार जगत का खेल देखता है।** वह खेल जो उसी के लिए स्रष्टा ने रचाया है। जब इसने एक स्थूल देह को अपना स्वरूप मान लिया तो यह भूल गया, कि मैं चेतन हूँ। इसका नज़रिया बिगड़ गया। नज़रिया बिगड़ने से इसकी नज़र बिगड़ गई और फिर नज़ारा भी ऊट-पटांग हो गया। दुनिया का सारा मेला, इसके लिए झमेला बन गया। नज़रिया ठीक हो जाएगा तो नज़र ठीक हो जाएगी, नज़ारा तो ईश्वरीय है ही। जो भी वह स्रष्टा रचता है, वह आनन्दमय ही होता है। सच्चिदानंद की समस्त संरचना, पालन व संहार आनन्द में, आनन्द से एवं आनन्द के लिए ही है।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(23 मार्च से 7 अप्रैल, 2006)

गंगावतरण

मानव के लिए पृथ्वी-लोक से स्वर्ग-लोक में जाना **ईश्वरीय अनुकम्पा** पर आश्रित है, क्योंकि यह कर्म-साध्य नहीं, कृपा-साध्य है। पृथ्वी पर जन्म-मृत्यु, दुःख-सुख, जरा-रोग, विकृतियाँ, लाभ-हानि, लेना-देना, नश्वरता व क्षण भंगुरता है। स्वर्ग-लोक में यह सब नहीं हैं, वहाँ सुरभि, सौन्दर्य, शाश्वतता, आरोग्यता, अजरता, अमरता और आनन्द है। वह देवलोक है। **माँ गंगा स्वर्गलोकवासिनी है,** उसे लोक-कल्याण के लिए पृथ्वी पर लाया गया है। माँ गंगा साधारण नदी नहीं है। **तुलसी को सामान्य पौधा, पीपल को साधारण वृक्ष, गौ को साधारण पशु, सद्‌गुरु को साधारण व्यक्ति और गंगा को साधारण नदी समझना पाप है।** इनका मूल्यांकन देवता भी नहीं कर सके। इन्हें आज तक गुणों तथा शक्ति-गणना में कोई नहीं बाँध पाया। इनका दर्शन, पूजन, स्पर्श, सामीप्य व सेवन हमारे करोड़ों जन्मों के पापों को नष्ट कर देता है। निस्सन्देह गंगा मैया कोई साधारण जल-स्रोत नहीं है।

हिमालय में जो शिलाएँ पड़ी हैं उनमें कौन से तपस्वी, देवी-देवता व महामुनि शिलाओं के रूप में पड़े हैं, यह नहीं जाना जा सकता। हिमालय Consolidated Awareness (सघन अथवा घनीभूत चेतनता) है और गंगा मैया Liquidated Awareness (तरल अथवा प्रवाहित चेतनता) हैं। गंगा मैया बहता हुआ सद् व आनन्द है। अतः गंगा का स्पर्श चेतन है, उसका बहना सद् है, उसमें स्नान व उसका सेवन आनन्द है। भारत-भूमि की यह रीढ़-रज्जू है, यह ज्ञान-गंगा है। उसका नाद ब्रह्म-नाद है। जितना तत्त्वातीत तत्त्व है, उसका प्रकटीकरण गंगा-नाद से हुआ है। गंगा जी का महात्म्य

शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता, यह अनुभूतिगम्य है। योगी उस नादानुभूति से शब्द पकड़ता है, वे भी उस अनुभूति का वर्णन नहीं कर सकते।

महाराज भगीरथ अपने साठ हज़ार पूर्वजों के स्वर्गारोहण व लोक-कल्याण के लिए माँ गंगा को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाए। हमारे पूर्वज भगीरथ ने गंगोत्री में तप किया। आज भी वहाँ वह शिला प्रत्यक्ष है, जहाँ उन्होंने कठिन साधना से गंगा मैया द्वारा स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतरित होने की कृपा प्राप्त की। स्वर्ग से किसी को पृथ्वी पर लाना असम्भव को सम्भव कर देने जैसा है। भक्त भगीरथ के अथक प्रयास एवं माँ गंगा की कृपा द्वारा यह सम्भव हुआ। प्रश्न उठता है यह अथक प्रयास क्या है? अथक प्रयास का अर्थ है, कि जब कोई भक्त आपे से बाहर होकर, समष्टि हित के लिए प्रार्थी, प्रतिज्ञ अथवा दोनों बनकर प्रभु के आगे सर्वस्व समर्पण कर देता है तो कभी-कभी असम्भव भी सम्भव हो जाता है। प्रभु अपने भक्तों के लिए अपने सारे नियम, मर्यादाएँ व कानून ताक पर रख देते हैं। मैं अपनी बात को पुष्ट करने के लिए महाभारत से एक दृष्टान्त दूँगा।

महाभारत के युद्ध में भगवान श्रीकृष्ण की अपनी प्रतिज्ञा थी, कि अर्जुन का मात्र रथ चलाएँगे और शस्त्र नहीं उठाएँगे। कौरवों के सेनापति भीष्म ने प्रतिज्ञा की, कि मैं श्रीकृष्ण से शस्त्र उठवा कर छोड़ूँगा और उन्होंने पाण्डव सेना के रोज़ दस हज़ार सेनानी मारने शुरू कर दिए। भीष्म पितामह श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त हैं। वे **दृढ़-प्रतिज्ञ हैं, कि मैं ही तेरी शक्ति से तुझसे शस्त्र उठवा कर छोड़ूँगा।** इतना अधिकार प्रभु के उसी भक्त का हो सकता है, जो समर्पण का समर्पण कर चुका हो। दूसरी ओर अर्जुन समर्पित एवं प्रार्थी भक्त है। वह प्रार्थना करता है, कि प्रभु, पितामह को तो इच्छा-मृत्यु का वरदान है। इन्हें तो कोई मार ही नहीं सकता। अतः आप शस्त्र उठाओ, नहीं तो ये सारी पाण्डव सेना को समाप्त कर देंगे। प्रार्थी अर्जुन ने मन समर्पित किया हुआ है और प्रतिज्ञ भीष्म, समर्पण का समर्पण कर चुके हैं तथा दोनों एक दूसरे के विपक्ष में हैं। साथ ही पितामह को यह ज्ञात है, कि

यदि श्रीकृष्ण ने शस्त्र उठा लिया तो जिस कौरव सेना के वे सेनापति हैं उस सेना का सफाया करने में सुदर्शन चक्र को कुछ क्षणों का समय ही लगेगा। लेकिन फिर भी वे अधिकार पूर्वक श्रीकृष्ण से शस्त्र उठवाने की अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ हैं। अर्जुन को यह भली-भाँति ज्ञात है, कि पितामह चाहे सारी पाण्डव सेना का सफाया कर दें लेकिन वे उसे और उसके अन्य चारों भाइयों को नहीं मारेंगे। अर्जुन को अपने लिए राज्य-लिप्सा भी नहीं है क्योंकि वह अपने किसी व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए युद्ध-रत नहीं है। वह विदीर्ण, त्रसित व करुणा विगलित होकर श्रीकृष्ण से प्रार्थना करता है, कि प्रभु ! तुम शस्त्र उठाओ।

यहाँ प्रार्थी और प्रतिज्ञ दोनों विपक्ष में होते हुए भी एकमत होते दृष्टिगत होते हैं। एक तरफ प्रतिज्ञ है, दूसरी ओर प्रार्थी है और बीच में परमात्मा श्रीकृष्ण हैं। परमात्मा ने शस्त्र न उठाने की अपनी प्रतिज्ञा तोड़ते हुए दोनों की बात मान ली। परमात्मा को किसी को सफाई तो देनी नहीं है, कि उसने अपनी प्रतिज्ञा क्यों तोड़ी। **प्रार्थी और प्रतिज्ञ दोनों उनके भक्त हैं। एक के लिए अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी और दूसरे की प्रार्थना स्वीकार कर ली।** लोक-कल्याण के लिए प्रभु अपने सब नियम कानून तोड़ देते हैं। यहाँ यह तथ्य दृष्टव्य और विचारणीय है, कि **'सारथि'** प्रभु 'प्रार्थी' अर्जुन के हैं, प्रतिज्ञ भीष्म के नहीं हैं। हालाँकि भीष्म, अर्जुन से अधिक समर्पित भक्त हैं, जो समर्पण का समर्पण करके मानों प्रभु पर अपना पूरा अधिकार मानते हैं। अर्जुन को तो यह पूर्णतः ज्ञान भी नहीं है, कि श्रीकृष्ण परमात्मा हैं। वह तो उन्हें अपने एक सम्बन्धी व अनन्य हितैषी के रूप में जानता है। इसलिए अपने रथ की बागडोर उसके हाथ में दे देता है। फिर भी श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथि हैं। कारण यह है, कि **भीष्म की प्रतिज्ञा व्यष्टि के लिए है और अर्जुन की प्रार्थना समष्टि के लिए है।** भीष्म केवल अपनी निजी **'मैं'** की सन्तुष्टि हेतु प्रतिज्ञ हैं और अर्जुन का व्यक्तिगत कोई स्वार्थ नहीं है। जब लोक-कल्याण की भावना आती है तभी प्रभु आपके रथ की बागडोर अपने हाथ में लेते हैं। **इसी प्रकार भगीरथ का तप तथा गंगावतरण के लिए की**

गई प्रार्थना अपने किसी निजी स्वार्थ के लिए नहीं थी। वह लोक-कल्याण के लिए थी। इसीलिए वे स्वर्ग से गंगा को पृथ्वी पर ले आए। माँ गंगा को अवतरित होना पड़ा। पृथ्वी-लोक में अनेकानेक जीव जन्म-मृत्यु, रोग-दोष, पाप-पुण्य, सुख-दुःख से ग्रसित हैं। महाराज भगीरथ ने अपना सर्वस्व त्याग कर माँ गंगा से प्रार्थना की, अपनी देह तक का ध्यान नहीं किया। आज भी वह भगीरथ शिला वहाँ विराजमान है। विकृत दृष्टि के जीव, गंगा को भी प्रदूषित देखते हैं। माँ गंगा तो स्वयं परम पावनतम, पुनीता हैं। **उसमें स्नान करने से हम धरती पर रहने वाले विकृत जीव धरती पर रहने योग्य हो जाते हैं।** स्वर्ग से जो धरती पर उतरता है वह जितना महा पूजनीय है उतना धरती से स्वर्ग जाने वाला नहीं है। गंगा मैया में सक्षमता व सामर्थ्य है, कि जिस भस्मी को इसमें प्रवाहित किया जाता है, वह आत्मा स्वर्गारोहण की अधिकारिणी हो जाती है।

माँ गंगा पृथ्वी पर लाई गईं। स्वर्ग से पृथ्वी पर आना स्वयं में तप है। करुणामयी माँ गंगा अपने सुपुत्र भगीरथ के अनुरोध पर कृपापूर्वक अवतरित हुईं। भगवान शंकर ने उनके अति प्रचण्ड वेग को अपनी जटाओं में समाहित किया। समष्टि हित के लिए भगवान शंकर स्वयं सहायक हुए। माँ गंगा लोक-कल्याण के लिए शाश्वतता से नश्वरता की ओर अग्रसर हुईं। इसी प्रकार महापुरुष, पीर-पैगम्बर व संत जगत-कल्याण के लिए पृथ्वी पर आते हैं उन्हें पृथ्वी का, उसके आकर्षणों का कोई महात्म्य नहीं होता। **वे पृथ्वी पर चलते से प्रतीत होते हैं।** वे स्वयं पृथ्वी के होते ही नहीं। इसी प्रकार गंगा मैया पृथ्वी की नहीं हैं, वे पृथ्वी पर लोक-कल्याण के लिए लाई गईं हैं। महापुरुष पृथ्वीलोक पर चाहे वैकुण्ठ से आएँ, शिवलोक से आएँ, ब्रह्मलोक से आएँ, वे लोक-कल्याण के लिए ही आते हैं। कभी-कभी ईश्वर स्वयं भी आते हैं, वे भगवान या पीर-पैगम्बरों, संतों, महापुरुषों के रूप में अवतरित होते हैं। वे स्वयं अजन्मे व शाश्वत् हैं, अजर-अमर हैं, उन्हें पृथ्वी का कोई आकर्षण नहीं होता। जो स्वयं में स्वर्गधामवासी या वैकुण्ठवासी है, वह पृथ्वी पर **चलता सा** दृष्टिगत् होता है।

पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण है, उसकी अपनी आकर्षण शक्ति है। भूमि के लिए राजा, महाराजा मार-काट व खून-खराबा करते रहे। वे तथाकथित भूमिपति चले गए, पर भूमि वहीं की वहीं है। पृथ्वी स्वयं में माया है, उसका अपना आकर्षण है। कोई अपने साथ सोना, चाँदी, जवाहरात, रतन, हीरे, मोती, धन-सम्पदा नहीं ले जा सकता। ये पृथ्वी की वस्तुएँ हैं, जो सबको आकर्षित करती हैं, लेकिन अन्ततः किसी के हाथ कुछ भी नहीं आता। पृथ्वी का यह समस्त आकर्षण भस्मी का स्वरूप है। हम मानव पृथ्वी पर आकर यह भूल जाते हैं कि पंच-तत्त्वों से बनी देह सहित आकाश, जल, वायु, अग्नि और पृथ्वी में जितना आकर्षण है, उसका कारण मात्र **भस्मी** ही है। दूध में समान रूप से घी समाहित रहता है और किसी विशेष प्रक्रिया द्वारा (मन्थन आदि) घी का प्रकटीकरण किया जाता है। आकाश में चन्द्र-सूर्य तथा समस्त नक्षत्रों सहित जितनी चमक-दमक है वह सामान्य आकाश में भस्मी का प्रकाट्य है। पृथ्वी की धातुएँ-अधातुएँ, स्वर्ण, चाँदी, हीरा आदि पृथ्वी में समान रूप से समाहित भस्मी का प्रकाट्य है।

पंच-महाभूतों में भस्मी समानतया समाहित है, लेकिन यदा-कदा उसका प्रकाट्य होता है, जिससे हम उस तत्त्वातीत तत्त्व की चमक, मूल्यता व अमूल्यता पहचान सकें। चन्द्रमा आकाश नहीं है, सूर्य, नक्षत्र आदि **आकाश में** हैं। सोना-चाँदी पृथ्वी नहीं है, मोती व रतन आदि समुद्र या जल नहीं है। वैसे तो कण-कण अमूल्य है लेकिन इस अमूल्यता में जो बहुमूल्यता, आकर्षण व दिव्यता है, वह इस भस्मी के कारण है। **यह माया में माया है।** मिट्टी से कोई प्रेम नहीं करता, मिट्टी के प्रति कोई आकर्षित नहीं होता, लेकिन सोना-चाँदी से होता है, जबकि ये धातुएँ मिट्टी से ही निकलती हैं। अतः पृथ्वी, आकाश, जल, वायु, अग्नि का समस्त आकर्षण भस्मी के कारण है। वायु में गति, अग्नि में प्रचण्डता, प्रकाश व सौन्दर्य भस्मी के कारण है।

मानव-देह की जो अमूल्यता है, वह शिव के वैराग के कारण है। साधारतया मानव से मानव की भिन्नता हम भौतिक उपलब्धियों व

जीवन-स्तर के आधार पर करते हैं। जैसे किसी का भवन बहुत विशाल है, वह उच्च पद पर है, धन-सम्पदा बहुत अधिक है—इस आधार पर हम किसी को बड़ा या छोटा मानते हैं। अरे ! ये उपलब्धियाँ तो आनी-जानी वस्तुएँ हैं। सौन्दर्य उम्र बढ़ने पर, रुग्णावस्था में, कुरूपता में बदल जाता है, धन-सम्पदा समाप्त हो जाती है, महल, हवेलियाँ ध्वंस्त हो जाती हैं। कोई उच्चतम पद पर हमेशा नहीं रहता, सेवा-निवृत्त होना ही पड़ता है। बड़े से बड़े व्यापार को भी देह के जरा-ग्रस्त होने पर छोड़ना पड़ता है अथवा मरने के बाद स्वतः छूट जाता है:—

''कौन पूछेगा तुझे यह हुस्न ढल जाने के बाद।''

अतः व्यक्ति का सही मूल्यांकन उसके वैराग से होता है। हम इतिहास पर दृष्टि डालें तो हम पाएँगे कि इतिहास में स्वर्णाक्षरों में उनका नाम अंकित है जिन्होंने सर्वस्व त्याग किया है। जिन्हें पृथ्वी और उसके आकर्षणों का कोई महात्म्य नहीं है, उनके द्वारा त्याग ही होता है। वे त्याग करते भी नहीं, लोगों की दृष्टि में वे त्यागी होते हैं। लेकिन उनकी अपनी दृष्टि में वह त्याग नहीं होता क्योंकि उन्हें ज़मीन-जायदाद, धन-सम्पदा, पद-प्रतिष्ठा आदि का महात्म्य ही नहीं है। **वह महापुरुष वस्तुतः सब कुछ त्याग कर ही तो पृथ्वी पर आया है। हम उसे नहीं जान सकते। गंगा मैया क्या इस पृथ्वी से कुछ लेने के लिए पृथ्वी पर अवतरित हुई है?** जिसमें स्वयं में संकर्षण है, उसे पृथ्वी की कौन सी वस्तु आकर्षित कर सकती है? अरे ! जिसको वह देख ले, जिसे वह छू ले उसमें आकर्षण आ जाता है। श्रीकृष्ण का एक नाम संकर्षण भी है।

माँ गंगा में संकर्षण है। इसी प्रकार शिवलोक, विष्णुलोक, ब्रह्मलोक से अवतरित महापुरुषों, आरिफ़ों, पीर-पैग़म्बरों में संकर्षण होता है। इसलिए पृथ्वी का कोई आकर्षण इन्हें आकर्षित नहीं करता। **वे आकर्षण को आकर्षण देते हैं।** पृथ्वी पर बहुत से लोगों में आकर्षण होता है, लेकिन **उस आकर्षण को प्रमाणित संकर्षण करता है।** किसी में सौन्दर्य, ज्ञान, धन-बल, शक्ति, जन-बल, यश-ख्याति आदि का आकर्षण है, परन्तु जब तक उसे

ईश्वर-समर्पित नहीं किया जाएगा उसमें वास्तविक आकर्षण नहीं आएगा। उस आकर्षण का प्रकाट्य नहीं होगा, उसे जग में जाना नहीं जाएगा। नृत्य, गायन, लेखन, कवित्व आदि कलाएँ कितने लोगों में होती हैं, लेकिन सबकी पहचान जग में नहीं होती। किसी भी प्रतिभा या कला को जब ईश्वर-समर्पित कर दिया जाता है तभी वह कला सबको आकर्षित करती है। कभी-कभी, कोई-कोई व्यक्ति तो मृत्यु तक स्वयं में निहित प्रतिभा व कला से स्वयं भी अपरिचित रह जाता है। जब तक व्यक्ति को स्वयं अपनी प्रतिभा या कला का ज्ञान नहीं होगा तो उसके विकास, संवर्द्धन और संशोधन के लिए वह क्यों प्रयत्नरत होगा?

शक्ति को प्राप्त करना और उसे बाह्य जगत में प्रकट करना, आकर्षण होना और उस आकर्षण को जगत में प्रकट करना, दो पृथक् बातें हैं। जब ईश्वर की कृपा होती है, तभी किसी आकर्षण से कोई अन्य आकर्षित होता है। **यदि उस आकर्षण का अभिमान हो जाए तो वह आकर्षण विध्वंस का कारण बन जाता है।** कभी-कभी सौन्दर्य ही घातक बन जाता है। शक्ति व ज्ञान का अहं सर्वनाश का कारण होता है। **हम सबके भीतर ईश्वर ने जो रचना की है उस सबमें आकर्षण है। वह आकर्षण वैराग रूप में अदृश्य भस्मी का है, जो पंच-महाभूतों की सृष्टि में समान रूप से समाहित है।**

भस्मी पंच-महाभूतों की देह में अदृश्य रूप से समाहित तत्त्वातीत तत्त्व है। यही इस चराचर सृष्टि में समस्त निर्माण, पालन व संहार का कारण है। जब पंच-महाभूतों की किसी भी वस्तु का दहन अग्नि द्वारा होता है, तो अदृश्य भस्मी प्रकट हो जाती है। भगवान शंकर ने मात्र अग्नि को यह अधिकार दिया है, कि तुम मेरी आज्ञा से पंच-महाभूतों की चराचर सृष्टि में किसी भी वस्तु, प्राणी अथवा पदार्थ को, स्वयं सहित पंच-महाभूतों में विलीन करके उसमें अदृश्य रूप से समाहित इस तत्त्वातीत तत्त्व भस्मी को दृश्यमान कर सकती हो। भस्मी भगवान शंकर की अतिशक्ति वैराग का बाह्य प्रतिरूप है, पंच-महाभूत उनके पंच-प्राणों की प्रतिच्छाया हैं। अग्नि ऊर्ध्वगामी है और अग्नि का नाद हर-हर-हर है। अग्नि शिवप्रिया है, क्योंकि

वह भगवान शंकर का नाम जपती है। देवाधिदेव महादेव के पंच-प्राणों की अदृश्य ज्योति का बाह्य दृश्यमान प्रतिनिधित्व भी अग्नि करती है। किसी भी व्यक्ति की पहचान हम उसके चेहरे से करते या कराते हैं क्योंकि ईश्वर के पंच-प्राणों के प्रतिरूप पंच-महाभूतों का प्रतिनिधित्व मात्र चेहरे पर ही है। नेत्र, अग्नि का; कान, आकाश का; त्वचा, वायु का; जिह्वा, जल का और नाक, पृथ्वी का प्रतिनिधित्व करती है। जबकि वही त्वचा हड्डियाँ, धमनियाँ, शिराएँ चेहरे में भी हैं और शेष शरीर में भी हैं। **चेहरे में उन पंच-महाभूतों में समान रूप से समाहित भस्मी के आकर्षण का प्राकट्य है** इसलिए चेहरे से मानव की पहचान कराई जाती है। **ईश्वर को समर्पित बदसूरत चेहरा भी उसकी कृपा से मात्र आकर्षित ही नहीं करता बल्कि संकर्षण का हेतु बन जाता है।** खूबसूरती 'ब्यूटी पार्लर' से नहीं आती, व्यक्ति में छिपे वैराग से आती है। **इसीलिए योगी कभी वृद्ध नहीं होता। योगी में उत्तरोत्तर आकर्षण बढ़ता जाता** है। क्योंकि वह अपने **'भस्मी'** स्वरूप में आता रहता है। आकर्षण, उसके चेहरे के सौन्दर्य या उसमें निहित प्रतिभाओं, ज्ञान व कलाओं का नहीं होता। उसका मूल्यांकन उसके वैराग से होता है, कि वह कितना समर्पण कर सकता है, कितना दे सकता है। **दाता में संकर्षण होता है,** देने की आदत होती है। **देने का स्वभाव वैरागी का ही होता है।** जिसको सांसारिक पदार्थ आकर्षित नहीं कर पाते, वही बाँटता रहता है। जो आकर्षण को आकर्षण देता है वही उन वस्तुओं को त्याग सकता है। त्याग व समर्पण से ही आकर्षण प्रमाणित होता है। शक्ति को सम्भालने की शक्ति ही वैराग है, कि आपको शक्ति का कोई महात्म्य ही नहीं हो:–

''शाखों को तुम क्या छू आए, काँटों से भी खुशबू आए,
देखे और दीवाना कर दे, शायद उनको जादू आए।''

गंगा मैया के नाम, स्पर्श, कलकल नाद की ध्वनि सबमें संकर्षण है। गंगा मैया भारत-भूमि में आकर्षण विकसित करने के लिए धरा पर उतरी हैं। **पूजा की दृष्टि वालों के लिए भारत आज भी विश्व में पूजनीय है।** क्योंकि गंगा मैया ने भारत की भूमि का स्पर्श किया है। गंगा मैया सबका उद्धार

करती हैं। क्योंकि सबकी भस्मी जो तत्त्वातीत तत्त्व है जब गंगा जी में प्रवाहित की जाती है तो उन्हें भी स्वर्गारोहण का अधिकार मिल जाता है। हमारे ऋषि-मुनियों की कृपा से मात्र भारतीयों और भारतभूमि में श्रद्धा रखने वालों को यह सुविधा प्राप्त है, कि भूले-भटके लोगों की भस्मी को गंगा जी में प्रवाहित करने से वे भी स्वर्ग के अधिकारी हो जाते हैं। माँ गंगा स्वर्ग से धरती पर अवतरित हुई और पृथ्वी के जीवों का इस प्रकार कल्याण हुआ। इसीलिए स्वर्गारोहण इतना कठिन नहीं है, जितना स्वर्ग से धरती पर अवतरित होना दुर्लभ है। माँ गंगा की कृपा से यह असम्भव भी भारत-भूमि में सम्भव हुआ।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र भ्महाराज की जय''

(6 जून, 2006)

सीमित से असीम

भौतिक जगत में आज तक कोई भी परिपूर्ण नहीं हो पाया है और न कभी हो सकता है। यदि इसी भौतिक जगत को किसी भी स्थिति में हम परिपूर्ण ईश्वर से सम्पृक्त कर दें, तभी परिपूर्णता की परिकल्पना की जा सकती है। **भौतिक जगत को ईश्वर से सम्पृक्त करने के लिए एक विशेष औपचारिकता है, कि स्वयं को इस जगत से पृथक् करना पड़ता है।** स्वयं को इस देह व देह पर आधारित जगत से पृथक् करके अपने सच्चिदानंद स्वरूप ईश्वर से जोड़ लें, तभी यह सम्भव है। **यदि 'मैं' (जीवात्मा) देह से जुड़ा हुआ हूँ, तो इसमें अधूरापन और सीमा रहेगी ही। यद्यपि इस अधूरेपन में भी परिपूर्णता है, क्योंकि यह पूर्ण की रचना है। यह सीमित में भी असीम है। 'मैं'** अपनी असीमता की अनुभूति नहीं कर पाता, क्योंकि मैं जीवन को जन्म और मृत्यु से बँधे काल-चक्र में देखता हूँ। मैं देह से परिपूर्णता की अनुभूति चाहता हूँ, तो **'मैं'** देह से पृथक करके स्वयं को और इस देह को उस परिपूर्ण (ईश्वर) से जोड़ दूँ। परमात्मा न होता तो जीवात्मा कहाँ होता, इसलिए **'तू' है, तो 'मैं' हूँ और 'मैं' हूँ, तो देह है।** यह नहीं, कि देह है, तो **'मैं'** हूँ। समस्या यह हुई, कि **'मैं'** (जीवात्मा) देह को अपना स्वरूप समझ बैठा, कि मैं देह हूँ। इसलिए मुझे भ्रम हो गया, कि देह है, तो **'मैं'** हूँ, कि मेरा अस्तित्व देह से है। जब देह को मैंने अपना स्वरूप मान लिया, तो **'मैं'** (जीवात्मा) **'तू'** से परे हट गया। स्वयं में असीम होते हुए भी सीमित हो गया।

जब **'मैं'** किसी भी तरह से **'तू'** से जुड़ जाएगा, तो स्वतः ही **'मैं'** (जीवात्मा) देह से परे हट जाएगा। **'मैं'** देह से जुड़ा, तो मैं अपने अस्तित्व **'तू'** (ईश्वर) से परे हटा। **'मैं'** उसके सम्मुख हुआ, तो देह से परे हट गया। लेकिन देह भी मेरे लिए है। क्या देह तुझसे विमुख होने के लिए मुझे मिली थी? **'मैं'** ने देह को अपना स्वरूप समझा, तो **'मैं'** तेरे से विमुख हो गया और **'मैं'** तेरे सम्मुख हुआ, तो देह से विमुख **सा** होकर मुझे ज्ञान हो गया, कि **'मैं'** देह नहीं था। दे**ह मेरी भी नहीं थी, लेकिन देह मेरे लिए ही थी।** उस समय मुझमें यह प्रतिभा जाग्रत होती है, कि मैं देह को भी ईश्वर के साथ जोड़ सकता हूँ। जब तक **'मैं'** (जीवात्मा) स्वयं देह के साथ सम्पृक्त रहूँगा, तब तक **'मैं**' और **'देह'** परस्पर जुड़े रहेंगे और ईश्वर के विमुख रहेंगे। जब **'मैं'** तेरे सम्मुख हुआ तो मुझे ज्ञात हुआ, कि देह **तूने** (ईश्वर) मेरे लिए ही दी है। **यह देह भी तेरी है और मैं भी तेरा हूँ। जब मैंने स्वयं को और देह को ईश्वर-समर्पित किया तभी देह मेरे लिए हो पाती है।** उस स्थिति में आकर देह, यथार्थ देह बन कर अपने व ईश्वरीय रहस्यों से अवगत कराती है, पुरुषार्थ कर्म करवाती है। साधना, चिन्तन-मनन स्वतः भाव से करवाती है। तब देह की समस्त तथाकथित विकृतियाँ भी सुकृतियाँ बन जाती हैं।

दिव्यता की कोई सीमा नहीं है। जीवात्मा स्वयं में असीम है, क्योंकि ईश्वर का एकमात्र मानस-पुत्र है। वह सच्चिदानंद है और ईश्वर की ही तरह छः विभूतियों से युक्त है। जब वह नाम-रूप की देह के साथ तद्रूप हो गया तो वह सीमित हो गया। जबकि **'मैं**' (जीवात्मा) का सर्वव्यापी विस्तार **'तू'** (परमात्मा) की ही तरह है। **'मैं'** अमुक-अमुक हूँ, यह भाव आते ही जीवात्मा संकुचित सा जीव बन गया। इससे उसका सब कुछ सीमित हो गया। शारीरिक, बौद्धिक व मानसिक शक्तियाँ, प्रतिभाएँ, जन-बल, धन-बल, प्राप्तियाँ, लाभ-हानि, मान-अपमान और देह से सम्बन्धित सब कुछ और कुछ नहीं भी, इसकी अपनी बनाई सीमाओं में बँध गया। जिसे हम सीमित कहते हैं, वह सीमा भी असीम है।

मानव व केवल मानव को ही ईश्वर ने तीन शक्तियों से अनुग्रहीत

किया है। भौतिक या शारीरिक बल, जो पशुओं में भी है और कई पशुओं में मानव से कहीं अधिक है। दूसरा, बौद्धिक शक्ति तो पशुओं में भी है, लेकिन कम है। इस बल के बूते पर मानव पशुओं से काम लेता है। **तीसरी, अति महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक शक्ति है। यह शक्ति मानव-देह की नहीं है, लेकिन मानव को ईश्वर-प्रदत्त है।** भौतिक व बौद्धिक दोनों शक्तियों की सीमा है। लेकिन आध्यात्मिक शक्ति असीम है; जो **मात्र और मात्र मानव को ही दी गई है।** यह शक्ति मानव के अतिरिक्त किसी भी प्राणी को नहीं दी गई। इस शक्ति के सदुपयोग से प्रत्येक मानव ईश्वरीय सत्ता तक पहुँच सकता है। यह शक्ति भी असीम है और ईश्वर भी असीम है। शारीरिक व बौद्धिक शक्ति मात्र देह तक सीमित है और आध्यात्मिक शक्ति देहातीत अथवा विदेह है। **जब मानव इस असीम शक्ति का प्रयोग देह की भौतिक व बौद्धिक सीमित शक्तियों का उल्लंघन करने के लिए करता है, तो उसकी देह 'असद्' से 'सद्' हो जाती है। वह देह ही विदेह हो जाती है।**

आत्म-चिन्तन के लिए आवश्यक है, कि हम देह के समस्त तथाकथित आभूषण उतार दें। मर्यादाओं के, सम्बन्धों के, पद-प्रतिष्ठा के, देश-काल के, धर्म के, लिंग के, कर्तव्यों के समस्त अलंकरण आत्म-चिन्तन के लिए उतारना आवश्यक है। जैसेकि स्त्री विश्राम व सुषुप्ति के समय देह के आभूषण उतार देती है, उसी प्रकार आत्म-चिन्तन के लिए, योग के समय नाम-रूप की देह की समस्त उपाधियाँ, जो हमने व्यर्थ स्वयं पर लादी हुई हैं, उन्हें एक ओर रखना परमावश्यक है। जितनी भी मर्यादाएँ हैं, वे सब मानव द्वारा बनाई हुई हैं। ये स्त्री के लिए पृथक्, पुरुष के लिए पृथक्, विभिन्न देश-काल, परिस्थितियों में पृथक् होती हैं तथा विभिन्न धर्मों और जातियों में पृथक्-पृथक् होती हैं। यदि ईश्वर ने ये मयार्दाएँ व नैतिक मूल्य बनाए हुए होते, तो सारे विश्व में सारे मानवों के **एक ही होते।** जैसेकि पूरे विश्व में हर मानव माँ के गर्भ में नौ महीने में विकसित होकर धरा पर अवतरित होता है। **मर्यादाएँ मानव-बुद्धि का उत्पाद हैं और यदि इनका उल्लंघन किया जाए, तो इसका प्रभाव मानव-मन पर होता है।** मन में अनेक भय,

आशंकाएँ, तनाव, विक्षेप पैदा हो जाते हैं, क्योंकि मन में संस्कारों के बीज बहुत गहरे होते हैं।

भाव, स्वभाव और संस्कार मानव-मन की तीन विधाएँ हैं। मन में पहले भाव उठता है, विभिन्न भावों का समूह स्वभाव में रूपान्तरित होता है। स्वभाव संस्कार बनाता है और ये संस्कार मन में गहरे उतर जाते हैं। ये संस्कार जीव जन्मों-जन्मान्तरों तक ढोता रहता है। ये अज्ञात बोझे जो हम पर सदियों से पड़े हैं, इन बोझों ने हमारी सीमित बौद्धिक व शारीरिक शक्ति को और भी सीमित कर दिया। **हमारी शारीरिक, बौद्धिक शक्तियाँ जो पहले ही सीमित हैं, उन्हें हमारे संस्कारों, धर्मों, मर्यादाओं, कर्मों, लिंग, सम्बन्धों, देश-काल ने और भी अति-अति सीमित कर दिया।** स्त्री को ऐसा नहीं करना चाहिए, अमुक जाति व धर्म में इस प्रकार होना चाहिए आदि-आदि। इन आधारहीन मान्यताओं से हमारी शारीरिक व बौद्धिक शक्ति का न केवल विकास रुक गया, बल्कि वह सीमित रूप में जितनी थी, उतनी भी नहीं रही। ये शक्तियाँ कुण्ठित, विदीर्ण और अति संकुचित हो गईं।

आत्म-चिन्तन दिगम्बरों का विषय है। **जहाँ देह का अम्बर न रहे। जो देह के होते हुए भी देह व देह से सम्बन्धित इन निरर्थ उपाधियों, मर्यादाओं, धर्मों-कर्मों आदि से रहित हो जाए, वही दिगम्बर है।** जाति-भेद, रीति-रिवाज, धर्म-कर्म, मर्यादाएँ, देश-काल और न जाने क्या-क्या ओढ़ने के कारण हम अपनी देह में सीमित शारीरिक और बौद्धिक शक्तियों को भी नहीं जानते। जन्मों-जन्मान्तरों से हम इन संस्कारोंवश कुण्ठित से कुण्ठित होते चले गए। हमारी अधोगति होती चली गई।

मानव होने के नाते हमें इन तथ्यों का ज्ञान होना परमावश्यक है। हम वास्तव में जीवन से क्या चाहते हैं, यह हम नहीं जानते। महादुर्भाग्य यह है, कि हम जानना भी नहीं चाहते। जहाँ तक हमारी अपनी चाहतों का प्रश्न है, हमारी चाहतें अक्सर वस्तुगत होती हैं। इन चाहतों में हम आजन्म अतृप्ति, असन्तुष्टि और आसक्ति में ही भ्रमित होते रहते हैं। वस्तुतः हमें चाहत वस्तुओं की नहीं, बल्कि अपनी आनन्दमय मानसिक स्थिति की होती है।

अतृप्ति, असंतुष्टि और आसक्ति मानसिक अशक्ति की स्थितियाँ हैं, जिनका कारण हम भ्रमवश वस्तुओं का अभाव मान लेते हैं। यह समस्त प्रक्रिया **'मन'** की है।

रात को सोते समय सभी यह चाहते हैं, कि हम संतुष्ट होकर आनन्द में सोएँ। कमाई गयी वस्तुएँ यदि साथ रखकर भी सोएँ, तो सुषुप्तावस्था में उन वस्तुओं का होना या न होना एक ही बात है। इसी प्रकार हम आनन्द में सुबह उठना चाहते हैं। वस्तुओं का हमारे जीवन में कोई विशेष अर्थ नहीं है। हम मूलतः अपने मन को प्रसन्न व आनन्दित रखना चाहते हैं। **मन की उच्चतम आनन्दमय स्थिति अभावमय है, क्योंकि आनन्द अभावमय ही है।**

जीव-भाव में सीमित होने पर जीवात्मा असीम अधःपतन की ओर अग्रसर हो गया। ईश्वर का इकलौता मानस-पुत्र स्वयं में असीम ही था, इसका अधःपतन और ऊर्ध्वगमन दोनों असीम थे। ऊर्ध्वगमन व अधःपतन में दोनों ओर चार-चार सोपान हैं—ऊर्ध्व में अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष तथा अधःपतन में अर्थ, निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ। **'अर्थ'** मध्य में है। एक ओर क्रमबद्ध ऊर्ध्वगमन है, दूसरी ओर क्रमबद्ध अधःपतन है। दोनों की कोई सीमा नहीं है। **अनर्थ के बाद अनर्थानर्थ होता रहता है, क्योंकि अनर्थ की कोई अन्तिम सीमा नहीं है। दूसरी ओर मोक्ष भी असीम है। *'चलो सजना जहाँ तक राह चले'* वह राह कभी समाप्त नहीं होती।** मोक्ष वह मंज़िल है, जहाँ से राहें प्रारम्भ होती हैं। जब जीवात्मा देहाध्यासवश जीव-सृष्टि में आया, तो अधोगति प्रारम्भ हो गई। उसकी प्राप्तियाँ, पदार्थ, भोग, सुख-दुःख, खोना-पाना सब सीमित हो गया।

सभी सीमाएँ जीवात्मा की अपनी धारणाएँ व मान्यताएँ हैं, क्योंकि देहाध्यासवश जीवात्मा संकुचित हो गया। जप-तप, यज्ञ-हवन, ध्यान-योग, पूजा-उपासना आदि ऊर्ध्वगमनपरक सतोगुणी प्रकरणों में तथा भौतिक रजोगुणी व तमोगुणी कार्यों में भी यह अपनी ही बनाई सीमाओं में बँध गया। इसने जन्म-मृत्यु के मध्य के जीवन में स्वयं को कालबद्ध, साकार व सीमित

कर लिया, जबकि इसका प्रारम्भारम्भ (भ्रूणावस्था) और अन्तान्त (भस्मावस्था) दोनों निराकार और अकाल हैं। पाप-पुण्य, सुख-दुःख की मान्यताओं व अवधारणाओं को **'यज्ञ'** तोड़ देता है। **हवन जब हवनातीत हो जाए, काल जब कालातीत हो जाए, जीवन जब जीवनातीत हो जाए, तो वह यज्ञ बन जाता है।** दिव्य पुरुषों का जीवन यज्ञ बन जाता है और वे सीमित में भी असीम हो जाते हैं। उनका प्रत्येक कृत्य पूजा-प्रकरण एवं आराधना बन जाता है।

जब व्यष्टि देह द्वारा मुझे (जीवात्मा को) अपने समष्टिगत स्वरूप की अनुभूति होती है तो मेरे द्वारा हुआ प्रत्येक कृत्य ईश्वरीय व असीम होता है। **सीमित वस्तुतः जीव भाव है, जो जीवात्मा की मिथ्या धारणा है।** Everybody has its own limitation. अतः जो सीमाबद्ध है, वह भी समष्टिगत विभिन्न रूपों में असीम है। कहा गया है, कि ***'तेते पाँव पसारिए जेती लम्बी सौर'*** किसी की चादर की लम्बाई की निश्चित सीमा नहीं है और पाँव सिकोड़ने की भी कोई निश्चित सीमा नहीं है। हम जन्मों-जन्मान्तरों से स्वरचित तथाकथित सीमाओं में बद्ध हैं। महादुर्भाग्य यह है, कि इस बन्धन में ही हम जीवन का **'अर्थ'** समझ रहे हैं। हमने सीमाओं को तोड़ने की भी सीमा निश्चित कर ली।

ईश्वर और सद्गुरु से जुड़कर भी कोई स्वयं को सीमित समझता है, तो वह अज्ञानी जुड़ा ही नहीं है। एक तो रोगी है और एक रोगी **सा** है। एक डाक्टर किसी रोगी का निश्चित रूप से इलाज कर सकता है, लेकिन जिसे रोगी होने का वहम हो गया हो, उसे कौन ठीक कर सकता है! डॉक्टर यदि उसे यह कहेगा, कि तुम रोगी नहीं हो, तो वह उस डॉक्टर को अज्ञानी मानकर डॉक्टर बदलता रहेगा। यह रोगी **सा** होना रोगी और चिकित्सक दोनों के लिए कष्टदायक है। **रोगी का इलाज तो चिकित्सक कर सकता है, लेकिन रोगी सा का इलाज उसे चिकित्सक सा बनकर करना पड़ता है।** जीवात्मा स्वयं में मुक्त है। **'देह'** के साथ तद्रूपता में बँध **सा** गया। स्वयं में अजन्मा और अमर होते हुए भी जन्मने और मरने **सा** लगा। स्वयं में

असीम होते हुए भी सीमित हो गया। इस तथाकथित रोग में इसे भ्रम हो गया, कि मैं बँधा हूँ और यह एक काल्पनिक बन्धन से निवृत्ति चाहने लगा। सच्चिदानंद का अंश होते हुए जीव भाव में इसका सब कुछ **असद्** हो गया। पुनः अपने उस विशुद्ध स्वरूप को अनाच्छादित करने के लिए यह प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न का नाम **'पुरुषार्थ'** है—पुरुष+अर्थ। मेरी चेतन सत्ता का अर्थ क्या है? मैं कौन हूँ? मुझे मानव-देह व इसके जन्म व मृत्यु के मध्य बँधा जीवन क्यों मिला है? हम सब 'मैं देह हूँ,' इस वहम के भवरोग से युगों-युगान्तरों से ग्रसित हैं। इसी अवधारणा ने हमें स्वयं में असीम होते हुए भी अति सीमित सा कर दिया। हमारा नाम-रूप सब अस्थाई और क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। यहाँ सत्य भी असत्य हो गया और असत्य तो असत्य था ही। **हम स्वयं में सद् होते हुए भी असद् हो गए।**

जब जीवात्मा की देह के साथ तद्रूपता हुई, तो उसका सब कुछ असद् और सीमित हो गया। यदि जीवात्मा अपने उस असीम **'सद्'** स्वरूप का स्पर्श पाना चाहता है, तो उसे असद् की समस्त सीमाएँ तोड़नी होंगी। **देह को अपना स्वरूप मानकर स्वनिर्मित सत्य और असत्य दोनों से परे जाना होगा। इसे Out of the way कहते हैं।** उदाहरणतः मैं लखपति हूँ, करोड़पति बनना चाहता हूँ। देह को अपना स्वरूप मानकर जीव बना जीवात्मा इसी प्रकार की चाहतों में भ्रमित है। स्वयं नहीं जानता, कि यह बनना क्या चाहता है, और जो बनना चाहता है, वह बन जाने पर क्या हो जाएगा? इसकी चाहत इसीलिए समाप्त नहीं होती, क्योंकि यह स्वयं में कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों के स्वामी सच्चिदानंद ईश्वर का इकलौता **मानस-पुत्र** है। सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड इसके लिए रोज़ बनता है। इसलिए कुछ भी बनने और प्राप्त होने पर भी अतृप्त और असन्तुष्ट रहता है और आसक्तियों को लेकर पुनः पुनः जन्मता-मरता रहता है। यज्ञ आदि प्रकरणों से इसे **'सद्'** की पुष्टि होने लगती है। जप-तप, ध्यान-धारणा, पूजा-उपासना, **यज्ञ-हवन आदि पुरुषार्थ कर्मों से प्रारब्ध में जो नहीं होता वह भी मिल जाता है।**

देह से ही यह (जीवात्मा) फँसा था और देह से ही इसे बन्धन मुक्त

होना है। यह तद्रूपता टूटेगी तो मेरी सीमाएँ टूटेंगी। यहाँ मेरे लिए सीमित कुछ भी नहीं है, क्योंकि 'मैं' विशुद्ध जीवात्मा हूँ, जो स्वयं में असीम है। सीमाएँ भी मेरी भ्रान्तियाँ हैं, वहम हैं। मेरी इतनी उम्र हो गई, अब तो मैं कुछ नहीं कर सकता। मेरी कितनी उम्र है, मैं स्वयं नहीं जानता। मैं जीवात्मा स्वयं में चिरंजीवी, अजर-अमर व अविरल हूँ। देह के साथ तद्रूपता में मुझे वे विभिन्न धारणाएँ व सीमाएँ तोड़नी होंगी, जिन्हें मैं स्वयं निर्मित करता हूँ। **देह के साथ तद्रूपता की भ्रान्ति में ही भाग्य, प्रारब्ध, कर्मबन्धन, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, लाभ-हानि, उन्नति-अवनति, यश-अपयश आदि की स्व-निर्मित सीमाएँ हैं। इस भ्रान्ति से बाहर आना ही यज्ञ है।** हम यज्ञ द्वारा सद्गुरु-कृपा से तथाकथित अपनी देह तथा देह पर आधारित जगत की समस्त सत्य-असत्य विधाओं की सीमाओं को तोड़कर अपने विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप की अनुभूति **कर लेते हैं।** लेकिन यह समस्त प्रकरण कृपा-साध्य है।

मानव-जीवन का **'सद्'** केवल यही है, कि जीवन-काल में इष्ट-कृपा से हम अपने अकाल, निराकार, अदृश्य, विशुद्ध सच्चिदानंद स्वरूप को स्पर्श कर लें, ताकि भौतिक विकास, प्राप्तियों, लाभ-हानि, नाम-यश आदि का महात्म्य हमारे लिए समाप्त हो जाए। इन समस्त भौतिक उपलब्धियों का कोई निश्चित लक्ष्य या Milestone तो किसी के पास होता नहीं। मैं जीवन से चाहता क्या हूँ, मानव-जीवन का **अर्थ** क्या है? हम ऊर्ध्वगति (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) से पहले **'अर्थ'** को तो समझ लें। हमारा कोई निश्चित आधार हो, तभी तो हम ऊर्ध्वगमन अथवा अधःपतन की माप कर सकेंगे। जब हम सद्गुरु-कृपा से **'अर्थ'** का **'अर्थ**' (अर्थार्थ) समझ लेंगे, तो सब प्रकार से हमारा ऊर्ध्वगमन ही होगा, जो असीम होगा। यदि **'अर्थ' का अर्थ यानि 'अर्थार्थ'** अनुभूति में नहीं आएगा, तो सब प्रकार से अधःपतन ही होगा। इस अधःपतन की भी कोई सीमा नहीं होगी।

यह **'अर्थ'** मध्य की कड़ी है। यदि अर्थ का अर्थ हमारे पल्ले नहीं पड़ेगा, तो हमारे लिए जीवन का **'अर्थ'** मात्र **स्वार्थ** (स्व+अर्थ) होगा। हम

अधःपतन यानि निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ के असीम अधोपतन के मार्ग पर जन्मों-जन्मान्तरों में भटकते रहेंगे। जैसे ही मानव-जीवन का वास्तविक **'अर्थ'** सद्‌गुरु-कृपा से हमारी अनुभूति में आ जाएगा, तो यह अर्थ हमारे लिए **परमार्थ** (परम+अर्थ) होगा। हम सब प्रकार से ऊर्ध्वगमन यानि धर्म, काम और मोक्ष की असीम मंज़िल का स्पर्श कर लेंगे। मानव-जीवन का **'अर्थ'** हम अपनी बुद्धि से जान नहीं सकते। हमें मात्र तहे-दिल व रूह से आश्वस्त होना है, कि हम न जानते है और न जान सकते हैं। इसके लिए हमें सद्‌गुरु व इष्ट की शरण में जाना होगा। उसकी कृपा से हम यह जान पाएँगे, कि जो हम जानना चाहते हैं, वह नहीं जान सकते तभी सद्‌गुरु के चरणों में श्रद्धा व समर्पण होगा और उसकी कृपा से मानव-जीवन का **'अर्थ'** अनुभूति में आने लगेगा। सर्वप्रथम यह जान जाएँ, कि हम नहीं जानते, कि जीवन का अर्थ क्या है? हम तो यह भी नहीं जानते, कि हम नहीं जानते। जगत के इस **'असद्' (सत्य-असत्य)** माया-जाल को ही **'सद्'** माने हुए हैं।

यह जानना और मानना कृपा-साध्य है, कि हम कुछ नहीं जानते। सद्‌गुरु-कृपा से जानकर हम मान लें, कि हम जान ही नहीं सकते। उसके बाद अध्यात्म की यात्रा प्रारम्भ होती है। यह मायिक सृष्टि शिव-शक्ति-क्रीड़ा का प्रकाट्य है। यहाँ जीवन में यदि कोई प्रकरण या प्रक्रिया है, तो एकमात्र यही है, कि किसी भी प्रकार से और सब प्रकार से सद्‌गुरु व इष्ट की सान्निध्यता मिल जाए। हम उसके सम्मुख हो जाएँ। शेष सब उसका प्रकाट्य होगा। **साथ ही यह प्रकाट्य किसी प्रकरण का नहीं है। सद्‌गुरु व इष्ट की कृपा का होता है। हम उसकी कृपा से ही देव-दरबार अथवा सद्‌गुरु के चरणों में बैठ सकते हैं। यह प्रकरण Realisation है। शेष सब उसका प्रकाट्य (Utilisation) है।** अदृश्य प्रकरण का दृश्यमान प्रकाट्य होता है। हर प्रकाट्य आनन्दमय होता है, तब सीमित भी स्वयं में असीम होता है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(6अक्टूबर, 2006)

इच्छा, आकांक्षा एवं कार्यक्रम

प्रत्येक मानव-मस्तिष्क में आजीवन इच्छा, आकांक्षा और कार्यक्रम (Desire, Ambition and Programme) में से एक न एक वस्तु हमेशा रहती है। कभी दो, कभी तीनों भी रह सकती हैं। इच्छा और आकांक्षा में अन्तर है। इच्छा सामान्य जीवन के लिए सामान्य रूप में रहने वाली चाहत है। **आकांक्षा, ऐसा कुछ पाने की इच्छा है, जिससे हम असाधारण घोषित हो जाएँ।** हम स्वयं को असाधारण दिखाने के प्रयत्नों एवं भाग-दौड़ में अपनी समस्त ईश्वर-प्रदत्त शारीरिक, बौद्धिक एवं मानसिक शक्तियों को झोंक देते हैं। जैसे सिकन्दर आदि महत्त्वाकांक्षी राजा हुए, एक राज्य जीत लिया, दूसरे के लिए प्रयत्नरत हो गए और जीवन के अन्त तक यही सिलसिला चलता रहा। भौतिक जगत में यह एक प्रकार का जुनून है, जिसके लिए व्यक्ति अपना सब कुछ दाँव पर लगा देता है और अन्ततः आसक्ति में ही देह त्यागता है। यदि यही जुनून ईश्वर की प्राप्ति की ओर मोड़ा होता, तो वह योगी होता और बहुत कुछ पा लेता।

इच्छा, आकांक्षा और कार्यक्रम ये तीनों ही हमारे लिए घातक बनकर अन्ततः आसक्ति व अकाल मृत्यु के कारण बनते हैं। प्रत्येक मानव का अपने-अपने स्तर पर इन्हीं के तहत कोई न कोई कार्यक्रम भी हमेशा रहता है। देह **की** इच्छा व आकांक्षा का हमें ज्ञान नहीं है और देह से, देह के लिए हम अपने को देह मानने के भ्रम में कार्यक्रम बनाते रहते हैं। देह की भी ईश्वर द्वारा निर्धारित महत्त्वाकांक्षा है। क्योंकि देह मुझे ईश्वर द्वारा एक निश्चित कार्यक्रम के अनुसार ही मिली है। देह की दृष्टि से जो मिलना

अथवा खोना है, सब कुछ पूर्व निश्चित ही होता है। नाम हमारा प्रसिद्ध हो जाता है, परन्तु वह सब कुछ प्रारब्धानुसार ईश्वरेच्छा में हमारे द्वारा अथवा हमारे लिए होना ही होता है।

देह के कार्यक्रम का ज्ञान किसी भी मानव-बुद्धि से परे का विषय है। देह से इच्छा, देह से आकांक्षा व देह से कार्यक्रम हम मानव हमेशा अज्ञानवश व्यर्थ ही बनाते रहते हैं, जिसका कारण है–**देहाध्यास व देहाधिपत्य।** देहाध्यास व देहाधिपत्य का मूल है–**देहाभास।** अधिकतर वृद्धावस्था अथवा असाध्य रुग्णावस्था में हम मानव इस विषय में विशेष रूप से चिन्तित रहते हैं कि मरने के बाद मेरी संतान, धन-सम्पदा आदि का क्या होगा? इस विषय में हम सोचना ही नहीं चाहते, कि मरने के बाद मेरा यह सब कहाँ रहेगा! क्योंकि ये सब कुछ तो मेरी नाम-रूप की देह की अवचेतना पर ही आधारित है, वह देह ही नहीं रहेगी तो धन-सम्पदा, सन्तान, पद-प्रतिष्ठा मेरी कहाँ रहेगी? हम चिन्तित इसलिए रहते हैं, क्योंकि **देहाभास** युगों-युगान्तरों से हमारी चेतना में जड़ीभूत हो गया है। इसका मूलोच्छेदन हुए बिना हमारी देहाध्यास व देहाधिपत्य की समस्या का निदान नहीं होगा।

आसक्ति, अतृप्ति व असंतुष्टि तीनों का मुख्य कारण हमारी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ व कार्यक्रम ही हैं, जो देह से, देह के लिए हैं और अन्तहीन हैं। कल देह का क्या कार्यक्रम है, मैं नहीं जानता। मैं अपने कार्यक्रमों से बँधा हुआ हूँ, कि कल मैं यह काम अवश्य कर दूँगा। जबकि यह देह मेरे कार्यक्रमों से बँधी हुई नहीं है। मैं देह से विभिन्न कार्यक्रमों में इसलिए बँध जाता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं को देह माना हुआ है। कल मैं आपका यह काम निश्चित रूप से कर दूँगा। मैं स्वयं को देह मान कर ही ऐसे कार्यक्रम बनाता हूँ, जबकि मेरी जो नाम-रूप की देह है, उसका अपना कार्यक्रम है जो ईश्वर द्वारा सुनिश्चित है। वह कार्यक्रम मेरे लिए अनिश्चित है। साधारणतया बड़े-बड़े अफसर अपने निजी सचिव को पूरे सप्ताह के कार्यक्रम लिखवा देते हैं, कि इस प्रकार मेरी मीटिंग निश्चित कर दो। इस दौरान देह छूट जाए, देह में कोई विकार आ जाए, देह पर आधारित जगत जिससे हम सम्बद्ध हैं,

उसमें कोई दुर्घटना या आपत्कालीन स्थिति आ जाए, तो हमारे द्वारा पूरे सप्ताह के सुनिश्चित किए गए कार्यक्रम कैसे पूरे होंगे? देह पर हमने अधिपत्य कर लिया, लेकिन देह के अपने ईश्वर द्वारा निर्धारित कार्यक्रम हैं, उन्हें न तो हम जानते हैं और न ही जानना चाहते हैं। **वस्तुतः होता वही है, जो देह के अपने कार्यक्रमों द्वारा निर्धारित होता है। इसलिए हमारे अपने कार्यक्रम इसमें बाधा बनकर आसक्तियों व अकाल मृत्यु का कारण बनते हैं।**

महापुरुष अगले दिन का कोई कार्यक्रम नहीं बनाते, क्योंकि जो अदृश्य व अज्ञात है, उसे हम नहीं जान सकते। हमने महीने भर बाद का कोई कार्यक्रम बना लिया, लेकिन हम नहीं जानते उस समय हमारी देह व देह पर आधारित जगत का व्यवहार हमारे साथ क्या होगा? तो क्यों बनाएँ, यदि कभी बनाना भी पड़ जाए, तो उस सम्पूर्ण कार्यक्रम को प्रभु के चरणों में समर्पित कर दीजिए, कि प्रभु ! आप की ही इच्छा से यह कार्यक्रम बना है। दुर्भाग्यवश हम अपने कार्यक्रम अपने अहं से बनाते रहते हैं, इसलिए विक्षिप्त, तनावित व भयभीत जीवनयापन के लिए विवश हो जाते हैं।

मृत्यु के समय किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा देह से सम्बन्धित किसी कार्यक्रम की आसक्ति रह जाए, तो वह आसक्ति अकाल मृत्यु तथा अधःपतन का कारण बनती है। रात्रि की निद्रा के पश्चात् हमारा जो अगला दिन है वह हमारे लिए निरर्थक हो जाता है, यदि पहले दिन हम किसी इच्छा, आकांक्षा अथवा कार्यक्रम की चिन्ता या आसक्ति लेकर सोए हों। इसलिए यदि वे कार्यक्रम घटित होते भी हैं, तो वे भोग तो क्या देंगे, बल्कि तनाव का कारण बने रहते हैं। देह का एक-एक श्वास ईश्वर के हाथ में है। **मानव होने के नाते उत्कृष्टतम् बुद्धि से हम केवल यही सोचें, कि हमारे हाथ में कुछ नहीं है। अपनी हर इच्छा, आकांक्षा और कार्यक्रम को प्रभु-चरणों में समर्पित करना परमावश्यक है।**

हम जिसे अपने तथाकथित कर्तव्य कहते हैं, वे हमने स्वयं पर व्यर्थ ही थोपे हुए हैं। **पिता के नौ सेकेण्ड और माँ के नौ महीने, बस इतना ही**

हमारी सन्तान को हमसे चाहिए। उसके बाद हम न भी रहें, तो उनका पालन-पोषण ईश्वर-इच्छा में जैसा होना होगा, अवश्य होगा। हमारे होश सम्भालने से पहले सृष्टि यथावत् चल रही थी और हमारे बाद भी चलती रहेगी। इसका अर्थ है, कि देह से, देह के लिए अथवा संसार के लिए भी जो हम कर रहे हैं, उसकी आवश्यकता नहीं है और हमारी भी यहाँ कोई ज़रूरत नहीं है। प्रश्न उठता है, यदि मेरी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है, तो मैं इस धरती पर मानव देह में क्यों लाया गया हूँ? पिता के रूप में, बेटे के रूप में, फैक्ट्री मालिक के रूप में यदि किसी भी देह की अवस्था में मेरी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है, तो फिर मैं यहाँ क्यों हूँ? **हम जीते-जी अपने जीवन-काल में इस परम सद् की अनुभूति कर लें। इसलिए मानव-देह व उत्कृष्टतम बुद्धि देकर हम इस संसार में लाए गए हैं। हम देह के रूप में अपनी सीमाएँ और अपनी 'मैं' यानि अपने जीवात्मा स्वरूप की दृष्टि से अपनी हैसियत पहचान लें, इसी में मानव-जीवन की सार्थकता है।**

इसके लिए जहाँ व जिस क्षेत्र में हम स्वयं को बहुत कुशल, जिम्मेवार और महत्त्वपूर्ण मानते हैं उसको इस भाव के साथ छोड़ देना होगा, कि मानों मैं संसार में आया ही नहीं। जीते-जी जब किसी ऐसी वस्तु को छोड़ देंगे जो हमारे लिए हमारे जीवन का लक्ष्य बनी हुई है, तभी हमें इसकी अनुभूति होगी, कि मैं व्यर्थ ही स्वयं को उत्तरदायी एवं जिम्मेवार समझे हुए था। मेरे बिना भी हर कार्य बहुत अच्छी तरह से हो रहा है। **हमारा ऑफिस हमारे सामने हो और हम देखें कि उस ऑफिस को दूसरा कोई अच्छी तरह से सम्भाल रहा है।** हम इस संसार में इसलिए लाए गए हैं, कि हम तहे-दिल व रूह से आश्वस्त हो जाएँ, कि हमारी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। मेरे बिना कोई कार्य कैसे होगा, यह भाव ही इच्छा, आकांक्षा और कार्यक्रम इन तीनों का जनक है। मैं बहुत जिम्मेदार और कुशल हूँ। मेरे बिना कोई कार्य ठीक नहीं होता, यह झूठी धारणा ही इच्छा, आकांक्षा व कार्यक्रम—इन तीनों की जननी है। यह भाव व धारणा नहीं रहेगी, तो ये तीनों भी ईश्वर की ओर स्वतः मुड़ जाएँगे।

आध्यात्मिक जीवन परम सद् की खोज है। इसके लिए स्वतः ही अपना सर्वस्व दाँव पर लग जाता है। फैक्ट्री, दुकान, व्यापारिक संस्थान कामधेनु रूप में हमारे सामने है और हम परम सद् की प्राप्ति के लिए पूर्णतः सुचारू एवं स्वस्थ होते हुए भी जीते जी छोड़ देते हैं। अपने सामने देखें, कि हमारी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। **मैं आवश्यक हूँ, जहाँ देहाध्यास के साथ यह भाव आ गया, तो वहीं देहाध्यास आधि, व्याधि और उपाधि इन तीनों रोगों का कारण बन जाता है।** जीवन-दर-जीवन हम कुछ न कुछ करते चले आ रहे हैं। देह से, देह के लिए संघर्षरत हैं। देह चली गई, हमें क्या मिला? आज के दिन का सोच लो, कि क्या पता आज का दिन मेरे जीवन का अन्तिम दिन हो, तो मैं यहाँ से क्या लेकर जाऊँगा? आजतक मुझे क्या मिला? जो है, वह मैं नहीं रहूँगा, सब छोड़कर चला जाऊँगा, मेरे लिए वह सब नहीं रहेगा। जब रात्रि में **'मैं'** सो जाता हूँ तब सुषुप्तावस्था में वह सब मेरे लिए नहीं रहता। न मेरी देह, न उस पर आधारित जगत, कुछ भी नहीं रहता। कौन पिता, कौन पत्नी, कौन सन्तान, धन-सम्पदा, पद-प्रतिष्ठा, नाम-यश सब एक मायाजाल है। इस इन्द्रजाल में हम व्यर्थ ही नहीं बल्कि नकारात्मक रूप से युगों-युगान्तरों से विभिन्न जन्मों-जन्मान्तरों में भ्रमित हैं।

'मैं' आवश्यक हूँ यह भाव इच्छा, आकांक्षा व कार्यक्रमों का उत्पादक है। ये तीनों **देह से** हैं, परन्तु **देह के** नहीं हैं। **इच्छा, आकांक्षा और कार्यक्रम तीनों देह के नहीं हैं।** जीवात्मा स्वयं को देह मानने के भ्रम से जीव बन जाता है। यह देहाध्यास, Pseudo धारणाएँ बनकर जीवात्मा से चिपक जाता है और इसमें इच्छा, आकांक्षा और कार्यक्रम मानव-मस्तिष्क में हमेशा रहने लगते हैं। तीनों में से एक न एक, कभी दो और कभी-कभी तीनों ही मानव मन व मस्तिष्क को घेरे रहते हैं। **देह से, देह के लिए और देह पर आधारित जगत के लिए हम संघर्षरत रहते हैं, लेकिन कभी यह नहीं सोचते, कि देह काहे के लिए है।** देह हमें क्यों मिली है, क्या हम देह द्वारा इस क्षेत्र में कोई कार्य कर रहे हैं? हम देह के लिए सुख-साधन एकत्र करते रहते

हैं और हमारी देह ही हमसे घृणा करती है। सामान एकत्र होने तक देह में उन वस्तुओं को भोगने की क्षमता समाप्त हो जाती है। देह स्वयं आनन्द का स्रोत है। ईश्वर द्वारा निर्मित, स्वयं में सौन्दर्य, सुगन्ध, ऐश्वर्य, ज्ञान, यश का आगार है।

हम स्वयं को देह मानकर इच्छाएँ पूरी करने में जुट जाते हैं और **नहीं जानते कि देह की वास्तविक इच्छा क्या है?** हमने अपनी इच्छाएँ देह पर थोप दीं तो देह भी कभी-कभी हमें दिखाती है, कि तू अपनी इच्छा पूरी करके दिखा। कई अड़चनें आ जाती हैं। इस प्रकार हम स्वयं देह का अवमूल्यन कर देते हैं और देह ही हमारे विरुद्ध हो जाती है। जब हम 'देह काहे के लिए है' इस दिशा में देह से कुछ पुरुषार्थ कर्म करते हैं, तो देह हमारी सहायक हो जाती है। **हमें यह देखना अनिवार्य है, कि इस नश्वर देह का 'मैं' सर्वोत्तम सदुपयोग क्या कर सकता हूँ। 'मैं'** देह नहीं हूँ मुझे मानव-देह मिली है और यह नहीं पता कि कब तक है। तो देह जिस विशेष कार्य के लिए मुझे मिली है, वह कार्य मैं आज ही क्यों न कर लूँ, क्योंकि कल का तो मुझे कुछ ज्ञान नहीं है। यहाँ देह हमारी सहायक होती है। दुर्भाग्यवश देहाध्यास में ही हम विभिन्न तथाकथित कर्तव्यों को स्वयं पर थोप कर **'मैं'** आवश्यक हूँ' इस भाव से लिप्त हो जाते हैं, कि मैं उसकी पत्नी हूँ या पति हूँ, मेरा यह कर्तव्य बनता है। मैं इन्जीनियर, सी.ए., टीचर, चकित्सक अथवा व्यापारी हूँ। मेरा समाज के प्रति कर्तव्य बनता है, आदि-आदि कुछ न कुछ बनकर विभिन्न मिथ्या धारणाओं से हम सदा परिवेष्टित रहते हैं।

हर मुलाक़ात का अंजाम जुदाई है। जन्म हुआ है, तो मृत्यु भी अवश्य होगी। हम जानबूझ कर अर्धसत्य में जी रहे हैं। जन्म दिन मनाते हैं और मृत्यु को जानते-बूझते हुए उपेक्षित करते हैं। इसीलिए हमारी इच्छा, आकांक्षा और कार्यक्रम अन्तहीन होते हैं। जब तक देहाध्यास रहेगा तब तक ये रहेंगे ही। देह अपने ईश्वर द्वारा निश्चित कार्यक्रम के अनुसार हमें छोड़ देती है, जिसका हमें कोई ज्ञान नहीं था। **यह हमारा अपराध नहीं था, परन्तु हमने कभी इस पर विचार ही नहीं किया और जान-बूझ-कर**

उपेक्षित किया। क्योंकि हम जानते हैं, कि यह देह जिससे मैं इच्छाएँ, आकांक्षाएँ व कार्यक्रम बना रहा हूँ, वह मुझे कभी भी छोड़ सकती है।

सांसारिक अदालतों में भी न्यायाधीश अपराध के पीछे नीयत को देखता है, कि अपराधी ने जुर्म जानबूझ कर किया अथवा किन्हीं विशेष परिस्थितियों में इससे हो गया। ईश्वर भी हमारी नीयत देखता है। देह का प्रोग्राम किसी को मालूम नहीं है। क्यों, कब, कैसे मिली और कैसे जाएगी, समय-समय पर क्या रूप लेगी? यह अज्ञान अपराध नहीं था, परन्तु हम जानना भी नहीं चाहते और जानबूझ कर इसे उपेक्षित करते हुए देह से अपनी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ व कार्यक्रम बनाते रहते हैं। हमें पूर्ण ज्ञान है, कि देह हमारे साथ हमेशा नहीं रहेगी और हमारी है ही नहीं, इसे देने वाला कभी भी इसे छीन सकता है। यह कोई उपहार नहीं है, लेकिन फिर भी हम जानबूझ कर इस नग्न सत्य को उपेक्षित करते हैं। यह बहुत बड़ा भ्रम था। इसलिए वे इच्छाएँ, आकांक्षाएँ व कार्यक्रम मृत्यु के बाद जब देह व देहाध्यास नहीं रहता तो देहाभास रूपी Software (सूक्ष्म व निराकार देह) में स्वतः चले जाते हैं एवं अंकित हो जाते हैं।

देह छूट जाती है, पर देहाभास नहीं छूटता, जो पुनर्जन्म का कारण बनता है। इच्छाओं, आकांक्षाओं व कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए पुनः देह मिलती है, और पुनः शून्य से प्रारम्भ करने पर विवश होना पड़ता है। पिछले जन्म में किसी स्कूल का प्रधानाध्यापक बनने की आसक्ति में देह त्यागी हो, तो हो सकता है उसी स्कूल में फिर से क. ख. ग. पढ़ने के लिए दाखिला लेने में भी परेशानी हो। कितनी बड़ी सज़ा है ! मान लो कोई लखपति हो और करोड़पति बनने की चाह में कार्यक्रम बनाते हुए देह उसे छोड़ दे तो हो सकता है कि अगले जन्म में वह किसी भिखारिन की कोख से पैदा हो जाए और रास्ते में खड़ा भीख माँगे। **इसे कहते हैं भोग-भ्रष्ट, जो अधोगति को प्राप्त होता है।** इस प्रकार जो इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और कार्यक्रम हमारे मन-मस्तिष्क में आजीवन, ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से लदे रहते हैं, उनका फल क्या होगा, यह हम नहीं जानते। क्योंकि देह छूटने पर भी देह से व देह

के लिए की गई वे इच्छाएँ, आकांक्षाएँ व कार्यक्रम **'देहाभास'** के साथ चिपके रहेंगे यहाँ कुछ भी भौतिक निरन्तरता नहीं है। जीवन-काल में भी यह संभव है कि आज हम करोड़पति हैं और कल कुछ ऐसा हो जाए कि हम दर-दर के भिखारी बन जाएँ। हर दिन देह क्षीण व क्षीणतर होती रहती है, लेकिन फिर भी हम होश में नहीं आते।

योगी, जो ईश्वर से जुड़ा रहता है, वह भी भस्मीयोग द्वारा कुछ क्षणों के लिए देहाध्यास से मुक्त हो जाता है, लेकिन देहाभास वहाँ भी रहता है। वह देहाभास ही भस्मीयोग की समाधि-स्थिति से बाहर आने पर पुनः देहाध्यास में रूपान्तरित हो जाता है। **अतः देहाध्यास का मूल यह देहाभास ही है।** समाधि में नाम-रूप की सारी सृष्टि आपकी चेतना में लय हो जाती है, देहाध्यास नहीं रहता। बड़ी शान्ति मिलती है। अद्वितीय व अनुपम अनुभूतियाँ होती हैं। आप में वैर-वैमनस्य, शत्रुता, ईर्ष्या-द्वेष आदि के भाव समाप्त हो जाते हैं, लेकिन देह व देह से सम्बन्धित जगत की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ व कार्यक्रम देहाभास रूपी सूक्ष्म देह में अंकित रहते हैं। यह देहाभास ही समाधि स्थिति से बाहर आने पर देह व विभिन्न नाम-रूपात्मक सृष्टि को अपने साथ पाकर पुनः देहाध्यास में बदल जाता है। सूक्ष्म रूप में देहाभास पुनः हावी हो जाता है, यद्यपि आप पहले से अधिक शान्त व आनन्दित होते हैं।

इसी प्रकार मृत्यु के बाद देहाध्यास वाली देह पंच-महाभूतों में विलीन हो जाती है। देह व देह पर आधारित जगत से रखी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ व कार्यक्रम इस स्थूल देह के अन्त होने के बाद देहाभास रूपी सूक्ष्म देह में अंकित रह जाते हैं। बल्कि जीते जी भी ये तीनों देहाभास में ही रहते हैं। हमारी देह से सम्बन्धित समस्त चिन्ताएँ भी देहाभास में होती हैं, कि मैं मर गया तो उसका क्या होगा? अरे! तू जीते-जी मृतकावस्था की धारणा करके देख, कि उसका तेरे बिना क्या और कैसे सब कुछ होता है। **उससे हम पूर्णतः आश्वस्त हो जाएँगे कि स्वयं को महत्त्वपूर्ण मानकर जो भी हम कर रहे हैं, उसकी आवश्यकता नहीं है।** आध्यात्मिक क्षेत्र में पहले स्वयं

और अपनी देह को लेकर चलिए। जब आप अपने जीवन-काल में किसी थोपे हुए कार्यक्रम से स्वयं को पृथक् कर लेंगे तो बार-बार वह वस्तु, वह स्थान, वह पद गुरु बनकर आपको चेतावनी देगा, कि जो जीते-जी आपने छोड़ा है, वह तेरे बिना भी अधिक व्यवस्थित व फलदायी हो सकता था। आप अवश्य ही पूर्णतः आश्वस्त हो जाएँगे, कि तू जो बनकर बैठेगा, ईश्वर परिपूरक विधा विभिन्न स्थितियों में तेरे सम्मुख प्रकट कर देगा। तू दुकानदार या व्यापारी बनेगा, तो ग्राहक आ जाएँगे, डॉक्टर बनेगा, तो मरीज आ जाएँगे, हलवाई बनेगा, तो मिठाई खरीदने वाले आ जाएँगे, दर्जी बनेगा, तो कपड़ा सिलवाने वाले आ जाएँगे, पनवाड़ी बनेगा, तो पान खाने वाले तेरे सम्मुख आ जाएँगे। सब कुछ बनने-बनाने वाला, करने-कराने वाला ईश्वर ही है। वहाँ से ये इच्छाएँ, आकांक्षाएँ व कार्यक्रम जो देह से बनते रहते हैं, आपके मन-मस्तिष्क से हटने प्रारम्भ हो जाएँगे।

देह से इच्छित वस्तुओं, सम्बन्धों व कार्यक्रमों को हमें छोड़ना ही पड़ेगा, क्योंकि देह कभी भी हमें छोड़ सकती है, तो उन्हें क्यों न पहले ही छोड़ दें। इससे ये तीनों इच्छा, आकांक्षा और कार्यक्रम जो हमारे अपने हैं, मन-मस्तिष्क से विलुप्त होने शुरू हो जाएँगे। देह अपने अर्थ से हमें अवगत कराएगी। अन्यथा हम देह के अपने अर्थ निकाल लेंगे और अनर्थ हो जाएगा। जब हमारे मन-मस्तिष्क में हमारे देह से बनाए कार्यक्रम, इच्छाएँ व आकांक्षाएँ नहीं रहेंगी, तो यह देह अपने रहस्य व अपने प्रोग्राम हमें बताएगी। देह हमारी सेवा में रहेगी। कार्य हो जाने के बाद भी देह हमारी चेरी बनी रहेगी। इसीलिए योगी भोगों का स्वामी होता है और वह भोगों को भोगता है। भोगी को भोग, भोग जाते हैं। योगी के लिए सुख बहुत छोटी वस्तु होती है, वह भोगों को आनन्द देता है। इस प्रकार योगी और भोगी दोनों के भोगों में अन्तर होता है।

देहाभास वाली सूक्ष्म देह निराकार है। सुषुप्तावस्था में देहाध्यास नहीं रहता, लेकिन देहाभास रहता है। इसलिए पहले दिन के कार्यक्रम, इच्छाएँ आदि जो अदृश्य रूप से अंकित रहती हैं अगले दिन उन्हीं के लिए हम पुनः

कार्यरत हो जाते हैं। उस दिन में, उस देह से हम अपने प्रोग्राम बनाते हैं, जबकि ईश्वर-प्रदत्त उस दिन का, उस देह का अपना प्रोग्राम है। **इसके लिए आवश्यक है, कि जहाँ हम सोचते हैं, कि हमारे बिना कार्य नहीं हो सकता, उस अहं को तुरन्त छोड़ दीजिए।** वह एक कड़ी तोड़ दीजिए, ताकि हमें अनुभूति हो सके, कि हमने व्यर्थ ही स्वयं को महत्त्वपूर्ण माना हुआ था। हमारे बिना भी कार्य कितना सुचारू रूप से हुआ, यह हम प्रत्यक्ष देख लें।

इसलिए पचास वर्ष की आयु के बाद वानप्रस्थ का शास्त्रीय विधान है। घर छोड़ने की क्या आवश्यकता है? घर में रहते हुए हम अनावश्यक हस्तक्षेप बंद कर दें। हम तहे-दिल से जान लें, कि हमारी आवश्यकता नहीं है। बच्चों को अपना खेल खेलने दीजिए। यदि हम हस्तक्षेप करना नहीं छोड़ेंगे तो वही आसक्ति लेकर पुनर्जन्म होगा और वही वातावरण पुनः मिलेगा। इसलिए किसी भी कारोबार, सम्बन्ध या पदार्थों से इतना बन्धन रखिए, कि रातों-रात भी यदि छोड़ना चाहें तो आराम से छोड़ सकें। नहीं तो वह कारोबार, दुकान, ऑफिस हमारे मन-मस्तिष्क को घुन की तरह खाता रहेगा और आसक्ति बनकर जन्मों-जन्मान्तरों में भटकाएगा। देह चली जाती है, लेकिन देहाभास रूपी यह Software दूसरे कम्प्यूटर के माध्यम से हमारे सम्मुख आता रहता है। देहाभास का निर्मूलन भस्माभास से होगा, जिसके लिए माँ पार्वती की कृपा अपेक्षित हैः–

''ज्ञान वैराग्य सिद्धयर्थं भिक्षां देहि माँ पार्वती।''

जब जीते-जी, स्वतः, पूर्ण स्वस्थ शरीर और उल्लसित मानस से, अपना कोई कारोबार या दुकान छोड़ते हैं और वहाँ अपने बिना उसी प्रकार कार्य होता देखते हैं, तो हमें तहे-दिल से यह अनुभूति हो जाती है, कि वास्तव में हमारी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। तब धीरे-धीरे यह तीनों वस्तुएँ–इच्छा, आकांक्षा और कार्यक्रम केवल समाप्त ही नहीं होंगे, बल्कि हम आध्यात्म की ओर मुड़ जाएँगे। जिज्ञासाएँ उठने लगेंगी, कि यदि सब कुछ मेरे बिना हो रहा है और सब करने वाला ईश्वर ही है, तो मुझे मानव-देह

देकर धरती पर क्यों उतारा गया है? भौतिक जगत में तो एक इच्छा पूरी होती है, दूसरी खड़ी हो जाती है। एक आकांक्षा अनेक आकांक्षाओं की जननी होती है और एक कार्यक्रम पूरा होते ही अन्य अनेक कार्यक्रमों की योजनाएँ मन-मस्तिष्क को घेर लेती हैं। लेकिन जब ये तीनों आत्म-चिन्तन की ओर मुड़ेंगी, तो एक ही इच्छा, एक ही आकांक्षा और एक ही कार्यक्रम रहेगा। हे प्रभु ! मैं जानता हूँ कि मैं तुम्हें मिलने योग्य नहीं हूँ, लेकिन फिर भी मैं तुम्हें मिलना चाहता हूँ । **यह आसक्ति लेकर जब हम देह त्यागेंगे तो अगले जन्म में योग-भ्रष्ट कहलाएँगे।** पहले की तरह भोगी रूप में भोग-भ्रष्ट नहीं होंगे। यह एक इच्छा, आकांक्षा और कार्यक्रम इतना प्रबल और दुर्गम है कि दूसरी कोई इच्छा, आकांक्षा और कार्यक्रम यहाँ ठहरेगा ही नहीं। हे प्रभु, मुझे अपनी एक झलक दे दो, यद्यपि मैं इसका अधिकारी नहीं हूँ, फिर भी मैं तुम से मिलने की इच्छा का दुःसाहस कर बैठा हूँ। तुम मुझ पर कृपा करो। यहाँ यही सम्पूर्ण इच्छा, आकांक्षा और कार्यक्रम कम पड़ जाएँगे। यह जो भाव है कि मैं तुम्हें नहीं पा सकता, इससे देहाध्यास, देहाधिपत्य तथा देहाभास तक का मूलोच्छेदन होना आरम्भ हो जाएगा :–

''माना तुम्हारी दीद के क़ाबिल नहीं हूँ मैं,
तू मेरा शौक देख, मेरा इंतज़ार देख।''

हे प्रभु ! मैंने कोई जप, तप, ध्यान नहीं किया और न मैं कर सकता हूँ। लेकिन अब मैं तुम्हारे सिवा और कुछ नहीं चाहता। परन्तु मैं तुम्हें पाने में असमर्थ हूँ, मैं इसी ग़म में जीना चाहता हूँ और इसी ग़म में मरना चाहता हूँ। मैं जीवन में असफल रहा हूँ क्योंकि तुम्हें पाने, तुम्हारी झलक, तुम्हारी याद व सिमरन तक का अधिकार खो चुका हूँ। इसके ग़म में रोने के लिए मुझे अश्रु दे दो। **इच्छा, आकांक्षा और कार्यक्रम का यह दिशा-परिवर्तन बहुत आवश्यक है।** प्रभु ! आपने अति कृपा करके मुझे विभिन्न शक्तियों, सामर्थ्य, तन-मन-धन, बल-बुद्धि-विद्या से नवाज़ा है पर जब मुझे इनका इस्तेमाल करना नहीं आता तो मैं क्या करूँ? अब इतना कुछ दिया है तो इसे मेरी ओर से तुम ही इस्तेमाल भी करो। और अपनी बल-बुद्धि-विद्या, समर्थ, शक्ति व

अपने दिए तन-मन-धन से मेरा जीवन तुम ही चलाओ। **सब कुछ तेरा ही तेरा हो।** आज तक जितनी कृपाएँ प्रभु तुमने की हैं, वे सब अकारण ही की हैं। मुझसे तुम्हारा ध्यान, जप-तप, पूजा, उपासना कुछ नहीं होता, क्योंकि मैं तुम्हारा ध्यान करने, तुम्हें याद करने के योग्य ही नहीं रहा। तुम तो कृपा के निधान हो, कृपा के सागर हो। आज तक भी जो कुछ हुआ तुम्हारी अकारण कृपा से ही हुआ। **अब बस मुझे अपने से बिछुड़ने का ग़म ही लगा दीजिए।** यहाँ से जब एक ही इच्छा, आकांक्षा और कार्यक्रम रह जाएगा, तो आपके देहाभास का ही पूर्णतः मूलोच्छेदन हो जाएगाः–

''कोई आरज़ू नहीं है, कोई इल्तिजा नहीं है,
तेरा ग़म रहे सलामत, मेरे दिल को क्या कमी है।
तुझे कह दिया सितमगर, यह कुसूर था जुबाँ का
तू मुझको माफ़ कर दे, मेरा दिल बुरा नहीं है।
तू बचाए लाख दामन, मेरा फिर भी है ये दावा,
तेरे दिल में मैं ही मैं हूँ, कोई दूसरा नहीं है।''

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(3 और 4 जुलाई, 2006)